CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ISSN No. 0971-796x

प्राकृत-विद्या
PRAKRIT-VIDYA

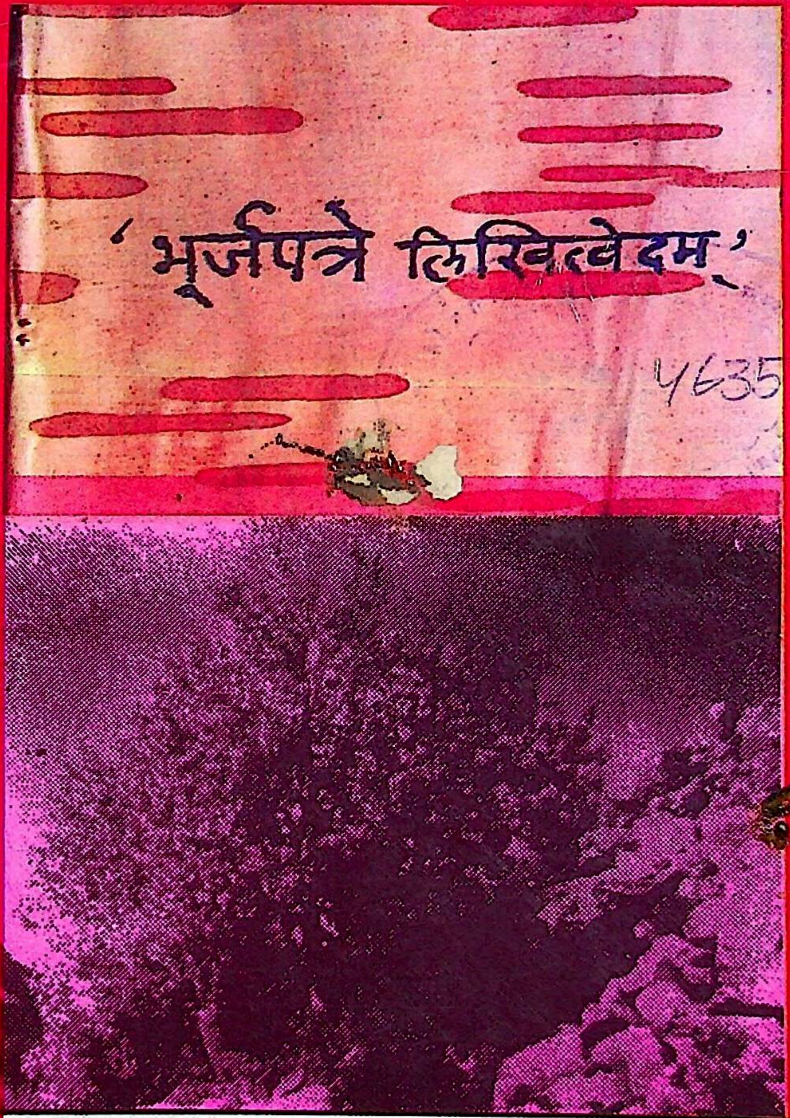

"भुज्जपत्ते लेहो लिहिदूण"
(भोजपत्र पर लिखी हुई पाण्डुलिपि एवं हिमालय में भोजवृक्ष)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आवरण पृष्ठ के बारे में

'भोजपत्र' एवं 'ताड़पत्र' कागज के आविष्कार से पूर्ववर्ती काल से लेखन-सामग्री के रूप में प्रयुक्त होने वाले आदर्श एवं पवित्र साधन माने जाते रहे हैं। भोजपत्र 'भूर्जवृक्ष' अथवा 'भुज्जरुक्ख' के तने की छाल से निर्मित एक प्राकृतिक लेखन-साधन हैं, जिनका कागज की तरह उपयोग होता रहा है। प्राकृतग्रंथों में उल्लेख मिलता है कि **"भुज्जपत्ते लेहो लिहिदूण"** – अर्थात् 'भूर्जपत्र या भोजपत्र पर लेख लिखकर'। यद्यपि प्राचीनकाल में ताड़पत्रों का भी लेखन-सामग्री के रूप में बहुतायत से उपयोग होता रहा है, किन्तु इन्हें भोजपत्रों की तरह मोड़कर सुगमतापूर्वक नहीं रखा जा सकता था। तथापि दोनों का महत्त्व बना रहा। इसका एक कारण यह भी रहा है कि भूर्जवृक्ष हिमालय की बर्फीली ऊँचाईयों में पाया ज़ाने वाला दुर्लभवृक्ष है, जिसके वल्कल को ही भोजपत्र के रूप में जाना जाता है। जबकि 'ताड़' के वृक्ष प्रायः मैदानी समुद्रतटीय जलवायु में पाये जाते हैं, अतः क्षेत्रीय सुलभता की दृष्टि से दोनों (भोजपत्र एवं ताड़पत्र) ही लेखन सामग्री के रूप में अतिप्राचीन काल से व्यवहृत रहे हैं।

भूर्जवृक्ष को भारतीय संस्कृति में मंगल प्रतीक माना गया है। प्राचीनकाल में मानव इसी की छाल को वस्त्र की तरह लपेट लेता था। धीरे-धीरे इन पर पुस्तकें भी लिखी जाने लगी। प्राचीन धार्मिक, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक साहित्य भोजपत्रों एवं ताड़पत्रों की पाण्डुलिपियों के कारण ही सुरक्षित रह सका है। भोजपत्रों का प्रारंभिक काल में पत्र-व्यवहार, विवाह-संस्कार, जन्मपत्री आदि के लेखन में बहुतायत से प्रयोग होता था।

दक्षिण भारत में दक्षिण भोजपत्र के स्थान पर ताड़पत्रों का लेखन सामग्री के रूप में अधिक प्रयोग मिलता है। अनेकों दुर्लभ ताड़पत्रीय पाण्डुलिपियाँ दक्षिण भारत में आज भी विद्यमान हैं। अपने दक्षिण-प्रवास के समय मूड़बिद्री (दक्षिण कर्नाटक) के जैनमठ में तत्रस्थ **भट्टारक श्री चारुकीर्ति स्वामी जी** के उदार सहयोग से मैंने लगभग छह माह रहकर इस कन्नड़ लिपिबद्ध ताड़पत्रीय पाण्डुलिपियों के अध्ययन का अभ्यास किया, तथा पं० देवकुमार जी शास्त्री के मार्गदर्शन में कतिपय अप्रकाशित पाण्डुलिपियों को लिप्यंतरित कर सम्पादित भी किया, जिनमें से दो ग्रंथ अभी तक प्रकाशित हो चुके हैं।

हमें भोजपत्रीय एवं ताड़पत्रीय पाण्डुलिपियों में सुरक्षित अपनी अमूल्य धरोहर की रक्षा करनी है; अन्यथा हमारी भाषा, संस्कृति, धर्म, दर्शन, कला एवं इतिहास की गौरवशाली निधि सुरक्षित नहीं बच पायेगी।

— सम्पादक

"शूरसेनोद्भवा भाषा, शौरसेनीति गीयते"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

11.6

उदयचन्द्र जैन
रवीन्द्रपुरी, वाराणसी

ISSN No. 0971-796×

4635

।। जयदु सुद-देवदा ।।

प्राकृत-विद्या
पागद-विज्जा

PRAKRIT-VIDYA
Pagad-Vijja

शौरसेनी, प्राकृत एवं सांस्कृतिक मूल्यों की त्रैमासिकी शोध-पत्रिका

The quarterly Research Journal of Shaurseni, Prakrit & Cultural Values

वर्ष 8 — अक्तूबर-दिसम्बर 1996 — अंक 3

Year 8 — October-December 1996 — Issue 3

मानद प्रधान सम्पादक
प्रो० (डॉ०) राजाराम जैन
निदेशक, कुन्दकुन्द भारती जैन शोध संस्थान

मानद सम्पादक
डॉ० सुदीप जैन
एम.ए. (प्राकृत), पी-एच.डी.

Hon. Editor
DR. SUDEEP JAIN
M.A. (Prakrit), Ph.D.

प्रकाशक
श्री सुरेश चन्द्र जैन
मंत्री
श्री कुन्दकुन्द भारती ट्रस्ट

Publisher
SURESH CHANDRA JAIN
Secretary
Shri Kundkund Bharti Trust

★ वार्षिक सदस्यता शुल्क — पचास रूपये (भारत) 6.0 $ (डालर) भारत के बाहर
★ एक अंक — पन्द्रह रूपये (भारत) 1.5 $ (डालर) भारत के बाहर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्पादक-मण्डल

डॉ० देवेन्द्र कुमार शास्त्री

डॉ० प्रेमसुमन जैन

डॉ० उदयचन्द्र जैन

पं० जयकुमार जैन उपाध्ये

★

प्रबन्ध सम्पादक

पं० महावीर शास्त्री

सम्पूर्ण सम्पादन-व्यवस्था पूर्णतः अवैतनिक है।

श्री कुन्दकुन्द भारती (प्राकृत भवन),
18-बी, स्पेशल इन्स्टीट्यूशनल एरिया,
नई दिल्ली-110067
फोन (91-11) 66-4510
फैक्स (91-11) 685-6286

Kundkund Bharti (Prakrit Bhawan)
18-B, Spl. Institutional Area
New Delhi-110067
Phone (91-11) 66-4510
Fax (91-11) 685-6286

जैन ज्योतिष एवं वास्तुविद्या कार्यालय दूरभाष : (91-11) 651-3138

(i) प्रकृतिः शौरसेनी।। 10/2।।
अस्याः पैशाच्याः प्रकृतिः शौरसेनी। स्थितायां शौरसेन्यां पैशाची-लक्षणं प्रवर्तयितव्यम्।

(ii) प्रकृतिः शौरसेनी।। 11/2।।
अस्याः मागध्याः प्रकृतिः शौरसेनीति वेदितव्यम्।

(वररुचिकृत 'प्राकृत-प्रकाश' से)

(i) शेषं शौरसेनीवत् ।। 8/4/302।।
मागध्यां यदुक्तं ततोऽन्यच्छौरसेनीवद् द्रष्टव्यम्।

(ii) शेषं शौरसेनीवत् ।। 8/4/323।।
पैशाच्यां यदुक्तं ततोऽन्यच्छेषं पैशाच्यां शौरसेनीवद् भवति।

(iii) शौरसेनीवत् ।। 8/4/446।।
अपभ्रंशे प्रायः शौरसेनीवत् कार्यं भवति।

अपभ्रंश-भाषायां प्रायः शौरसेनी-भाषा-तुल्यं कार्यं जायते; शौरसेनी-भाषायाः ये नियमाः सन्ति, तेषां प्रवृत्तिरपभ्रंशभाषायामपि जायते।

(हिमचन्द्रकृत 'प्राकृत-व्याकरण' से)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुक्रम

क्र.	शीर्षक	लेखक	पृष्ठ सं०
1.	मंगलाचरण (निजात्माष्टकम्)	आचार्य योगीन्द्र देव	4
2.	सम्पादकीय (नर-मादा)		7
3.	सरस्सदी-त्थुदि (कविता)	मुनिश्री कनकोज्ज्वलनन्दि	12
4.	मम भावना (कविता)	धन्य कुमार जैनी	14
5.	अच्चेलक्कं जगदि पुज्जं	डॉ० सुदीप जैन	16
6.	'भगवती आराधना' में वर्णित आयुर्वेद-विद्या	प्रो० (डॉ०) राजाराम जैन	20
7.	शौरसेनी की निर्मलधारा (कविता)	श्रीमती प्रभाकिरण जैन	29
8.	'भगवती आराधना' के निरुक्त शब्द	डॉ० उदय चन्द्र जैन	30
9.	समंतभद्दो हि जिणस्स सासणो (कविता)	डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री	36
10.	कामदं मोक्षदं देवम्	डॉ० गोपीलाल 'अमर'	38
11.	आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वामी	श्रीमती रंजना जैन	40
12.	प्रेरक व्यक्तित्व : पं० नाथूलाल जी शास्त्री	पद्म श्री बाबूलाल पाटोदी	46
13.	विद्यानन्दाष्टकम् (कविता)	उपाध्याय कामकुमारनंदि	48
14.	समयसार के पाठ	डॉ० सुदीप जैन	50
15.	धर्म की परिधि और पर्यावरण	डॉ० भागचन्द्र 'भास्कर'	54
16.	भारतीय आर्यभाषा...	डॉ० हीरालाल जैन	61
17.	श्रमण संस्कृति एवं वैदिक संस्कृति	प्रवीण कुमार जैन	68
18.	गन्धोदक : स्वरूप एवं महत्त्व	कु० आरती जैन	71
19.	बौद्ध परम्परा एवं जैन श्रामण्य	डॉ० सुदीप जैन	75
20.	जैनधर्म नास्तिक नहीं	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	80
21.	दानं दुर्गीति-नाशनम्		81
22.	पुरस्कारों की परम्परा एवं आ० कुंदकुंद पुरस्कार	पं० महावीर शास्त्री	83
23.	कविता	श्रीमती प्रभाकिरण जैन	85
24.	पुस्तक-समीक्षा		86
25.	अभिमत		90
26.	शुभ सन्देश		93
27.	समाचार-दर्शन		94

"नामाख्यातोपसर्गेषु, निपातेषु च संस्कृता।
प्राकृती शौरसेनी च, भाषा यत्र त्रयी स्मृता।।" *(आ०रविषेण, 'पद्मपुराण', 24/11)*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मंगलाचरण

निजात्माष्टकम् (णियप्पट्ठगं)

—आचार्य योगीन्द्रदेव

छठवीं शताब्दी ई० के महान् अध्यात्मवेत्ता सन्त आचार्य योगीन्द्रदेव 'अपभ्रंश भाषा के कवि' के रूप में जाने जाते हैं, किन्तु वे संस्कृत एवं प्राकृत भाषाओं में भी काव्य-रचना करते थे। उनकी यशस्वी संस्कृत-रचना 'अमृताशीति' तो प्रकाशित हो चुकी है तथा अद्यावधि अप्रकाशित 'स्रग्धरा' छन्दोबद्ध प्राकृत-रचना 'निजात्माष्टकम्' की कन्नड़ टीका-सहित प्रति कर्नाटक के ग्रंथ-भंडार में मिली है। यहाँ उसी प्रति के आधार पर मात्र मूलपाठ को हिन्दी अनुवाद-सहित 'प्राकृतविद्या' के जिज्ञासु पाठकों की ज्ञानपिपासा की तृप्ति के लिये प्रस्तुत किया जा रहा है।

—सम्पादक

णिच्चं तेलोक्क-चक्काहिव-सय-णमिया जे जिणिंदा य सिद्धा।
अण्णे गंथत्थ-सत्थागम-गमियमणा उज्झया-सूरि-साहू।।
सव्वे सुद्धं णियादं अणुसरणगुणा मोक्खसंपत्ति तम्हा।
सोहं झायेमि णिच्चं परमपयगदो णिव्वियप्पो णियप्पा।। 1।।

अर्थ:—जो तीनों लोकों के सौ चक्रवर्तियों (इन्द्रों) के द्वारा नित्य नमन किये गये हैं, ऐसे जिनेन्द्र (अर्हन्त परमात्मा) एवं सिद्ध परमात्मा हैं; तथा अन्य जो ग्रंथार्थरूप भावश्रुत एवं शास्त्ररूपी द्रव्यश्रुत की आगम-परम्परा में अपने उपयोग को लगानेवाले आचार्य, उपाध्याय एवं साधु परमेष्ठी हैं; उन सभी ने (अपनी आत्मा को) शुद्ध जाना है एवं उसी का अनुसरण भी किया है। तथा इसी से उन्हें मोक्ष की प्राप्ति हुई है अथवा भविष्य में होगी। अतएव मैं भी ऐसे परमपद को प्राप्त निर्विकल्प निजात्मतत्त्व का नित्य ध्यान करता हूँ (करना चाहता हूँ, ताकि मुझे भी शीघ्र मोक्ष की प्राप्ति हो)।

णिस्सो णिव्वाणमग्गो णिरुवि णिरुवमो णिक्कलो णिक्कलंको।
अव्वाबाहो अणंतो अगुरुलहुगुणगो णादि-मज्झावसाणो।।
सब्भावत्थो सयंभू गय-पयडिमलो सासओ सव्वकालं।
सोहं झायेमि णिच्चं परमपयगदो णिव्वियप्पो णियप्पा।। 2।।

अर्थ:—जो समस्त परिग्रहों से रहित है, मोक्षमार्ग (कारणसमयसार) स्वरूपी है, रूपातीत है, अनुपम है, अशरीरी (निष्कल) है, निष्कलंक है, अव्याबाधतत्त्व है, अनन्त है, अगुरुलघु गुण से युक्त है, आदि-मध्य-अन्त से रहित है, अपने स्वभाव में स्थित है, स्वयंभू है, समस्त कर्म-प्रकृतियों से रहित है, त्रिकाल शाश्वत तत्त्व है—ऐसे परमपद को प्राप्त निर्विकल्प निजात्मतत्त्व का मैं नित्य ध्यान करता हूँ (करना चाहता हूँ)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऍक्को सण्णाणपिण्डो विमलणहणिहो उड्ढगामी-सहावो।
णिच्चोवादेयतच्चो परस-रस-णिहो घेंत्त-देहप्पमाणो।।
सिद्धो सुद्धस्सरूवो चिदुपरमगुणो अक्खवो जो णिरक्खो।
सोहं झायेमि णिच्चं परमपयगदो णिव्वियप्पो णियप्पा।। 3।।

अर्थ:—जो एक (अखण्ड) है, सद्ज्ञान का पिण्ड है, आकाश के समान परिशुद्ध है, ऊर्ध्वगमन-स्वभावी है, नित्य उपादेयतत्त्व है, (अपने स्पर्श-अनुभव मात्र से भव्य जीवलोक का उद्धार करनेवाला होने से) स्पर्श-सिद्धि से युक्त के समान है, प्राप्त शरीर के आकारवाला है, सिद्ध है, शुद्धस्वरूपी है, अचेतन गुणों से रहित है, अक्षय है, अक्षातीत (इन्द्रिय-अगोचर) है, — ऐसे परमपद को प्राप्त निर्विकल्प निजात्मतत्त्व का मैं नित्य ध्यान करता हूँ (करना चाहता हूँ)।

जोईणं झाणगम्मो परम-सुहमओ कम्म-णोकम्म-मुक्को।
कायाकारो अकाओ कलि-कलुस-मलालेवचत्तो पवित्तो।।
सम्मत्तादी-गुणड्ढो गलिय-इह-परासाणुबद्धो विसुद्धो।
सोहं झायेमि णिच्चं परमपयगदो णिव्वियप्पो णियप्पा।। 4।।

अर्थ:—जो योगियों के ध्यानगम्य है, परमसुखमय है, कर्म और नोकर्म से रहित है, प्राप्त शरीर के आकारवाला होने पर भी शरीररहित है, कलिकाल के कालुष्य (मैल) के लेप से रहित है, पवित्र है, सम्यक्त्वादि गुणों से समृद्ध है, — ऐसे परमपद को प्राप्त निर्विकल्प निजात्मतत्त्व का मैं नित्य ध्यान करता हूँ (करना चाहता हूँ)।

णो इत्थी-पुण्णपुंसो णिरइसय-सुहालोयमाणोऽसमाणो।
णिद्देसो णिव्विसाओ मण-वयण-समारम्भ-संबंध-चुक्को।।
लोयालोयप्पयासो अविलय-णिलयो णिव्विसेसो णिरीसो।
सोहं झायेमि णिच्चं परमपयगदो णिव्वियप्पो णियप्पा।। 5।।

अर्थ:—जो स्त्रीवेद-पुरुषवेद-नपुंसकवेद रूप नहीं हैं, निरतिशय-अतीन्द्रिय सुख का अनुभव करनेवाला है, अतुलनीय है, नाम-निर्देश से रहित है, विषाद-रहित है, मन-वचन के समारम्भकृत सम्बन्ध से च्युत (विरहित) है, लोकालोक को प्रकाशित करनेवाला है, अविनाशी स्थानरूप है, विशेष (भेद) रहित है, निरीश (जिसका अन्य कोई स्वामी न हो ऐसा) है, —ऐसे परमपद को प्राप्त निर्विकल्पक निजात्मतत्त्व का मैं ध्यान करता हूँ (करना चाहता हूँ)।

णादासंखप्पदेसो समयमुवगदोऽणंतसोंक्खावठाणो।
छुत्तिण्णातीदभावो भवभयणभयो बंधमुत्तोऽमुत्तो।।
अव्वत्तो णाणगेंज्झो जर-मरण-चुदो जो परबम्हरूवो।
सोहं झायेमि णिच्चं परमपयगदो णिव्वियप्पो णियप्पा।। 6।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थः—जो ज्ञायकतत्त्व असंख्यातप्रदेशी है, स्वसमय को प्राप्त है, अनन्तसुख का अवस्थान है, भूख-प्यास से रहित स्वभाववाला है, संसार के भय से रहित है, बंध से मुक्त है, अमूर्तिक है, अव्यक्त होते हुये भी ज्ञानगम्य है, जरा-मृत्यु से रहित है, परब्रह्म-स्वरूपी है—ऐसे परमपद को प्राप्त निर्विकल्पक निजात्मतत्त्व का मैं नित्यप्रति ध्यान करता हूँ (करना चाहता हूँ)।

सव्वण्हू वण्ण-गंधा-इयर-विरहिओ णिम्मओ णिव्वियारो।
रूवातीदस्सरूवो सयल-विमल-सद्दंसणं-णाणबीओ।।
इट्ठा-णिट्ठ-प्पयोया-सुह-असुह-वियप्पासयाभावभूवो।
सोहं झायेमि णिच्चं परमपयगदो णिव्वियप्पो णियप्पा।। 7।।

अर्थः—जो सर्वज्ञस्वरूपी है, समस्त वर्ण-गंधादि विपरीत भावों से रहित है, ममत्वरहित है, विकल्परूप विचार से रहित है, रूपातीत स्वरूपवाला है, पूर्णतः निर्मल सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान का बीजभूत है, इष्ट एवं अनिष्ट संयोगों को प्राप्त करानेवाले शुभ और अशुभ विकल्पों के आश्रय के अभावस्वरूपी हैं, — ऐसे परमपद को प्राप्त निर्विकल्प निजात्मतत्त्व का मैं निरन्तर ध्यान करता हूँ (करना चाहता हूँ)।

रूवे-पिण्डे-पयत्थे ण कल-परिचये जोइबिंदे ण णादे।
अत्थे गंथे ण सत्थे ण करण-किरिया णावरे मग्गचारे।।
साणंदाणंदरूवो अणु-महसु सुसंवेयणाभावपुव्वो।
सोहं झायेमि णिच्चं परमपयगदो णिव्वियप्पो णियप्पा।। 8।।

अर्थः—रूप में, पिण्ड में, पदार्थ में, कलाओं के भेद में, ज्योतिवृंद में, नाद में, अर्थ में, ग्रंथ में, शास्त्र में, इन्द्रिय-व्यापार में, (निश्चय मोक्षमार्ग से भिन्न) अन्य किसी मार्ग में जो नहीं है; तथा जो छोटे-बड़े शरीरों में रहकर भी स्वसंवेदन-भावपूर्वक त्रिकाल आनन्दस्वरूपी है — ऐसे परमपद को प्राप्त निर्विकल्प निजात्मतत्त्व का मैं निरन्तर ध्यान करता हूँ (करना चाहता हूँ)।

।। इति श्री योगीन्द्रदेव-विरचितं 'निजात्माष्टकं' परिसमाप्तम्।।

अर्थः—इसप्रकार श्री योगीन्द्रदेव-विरचित 'निजात्माष्टक' नामक ग्रंथ समाप्त हुआ।

सम्पादकीय टिप्पणी—

यह काव्य मेरी जानकारी के अनुसार अद्यावधि पूर्णतया अप्रकाशित है। इसे कन्नड़ टीका-सहित सर्वप्रथम मेरे द्वारा ही लिप्यंतरण करके यहाँ मूलमात्र अनुवाद-सहित प्रकाशित किया जा रहा है। यह मेरी मौलिक शोध से प्राप्त कृति है। इसे मेरी अनुमति के बिना पूर्णतः या आंशिकरूप से प्रकाशित करना असंवैधानिक कार्य होगा। **—सम्पादक**

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्पादकीय

नर-मादा

–डॉ० सुदीप जैन

तीर्थंकर के उपदेशों एव द्वादशांगी जिनवाणी के बारे में एक पंक्ति आजकल चर्चा का विषय बनी हुई है–**"दश अष्ट महाभाषा समेत, लघु भाषा सात शतक सुचेत।"** अर्थात् 'भगवान् की दिव्यध्वनि एवं द्वादशांगी जिनवाणी अट्ठारह महाभाषाओं तथा सात सौ लघु भाषाओं से युक्त थी' — इसका घोर अनर्थ लोगों ने समझ रखा है। इस कथन की वास्तविकता को समझने के लिये हमें सूक्ष्मतापूर्वक विचार करना होगा। जहाँ तक भगवान् की दिव्यध्वनि का प्रश्न है, तो आगम साक्षी है कि वह तो मात्र 'ओंकारध्वनि' रूप ही होती है। हाँ, इतना अवश्य है कि उसे उपर्युक्त अट्ठारह महाभाषाओं एवं सात सौ लघु भाषाओं में समझा जा सकता है। जो श्रोता जिस भाषा का जानकार हो, उसके लिये भगवान् की वाणी उसी भाषा के रूप में परिणत होकर श्रवणगोचर होती थी। न कि भगवान् इतनी सारी भाषाओं में एक साथ बोलते थे। जैसे कि आजकल विज्ञानयुग में ऐसी व्यवस्थायें आ गयीं हैं कि वक्ता किसी भी भाषा में बोले, किंतु निर्धारित कक्षों में विशिष्ट उपकरण की सहायता से श्रोता अपनी-अपनी भाषा में उसे सीधे (Live) सुन सकते हैं। यदि उस उपकरण की क्षमता डेढ़ सौ भाषाओं में एक साथ भाषान्तरित करने की है, तो यह आवश्यक नहीं है कि वक्ता को डेढ़ सौ भाषाओं में एक साथ बोलना पड़ेगा। व्यवहारत: यह संभव भी नहीं है।

वस्तुस्थिति यह है कि भगवान् की धर्मसभा में श्रोता विभिन्न वर्गों के थे; वे विभिन्न क्षेत्रों से आये थे और भिन्न-भिन्न भाषाओं को बोलते-समझते थे। अब जो श्रोता जिस भाषा का (अथवा एकाधिक भाषा का) जानकार था, उसने उसी भाषा में 'जिनोदित तत्त्वोपदेश' को समझा; तथा अपनी ही भाषा में उसी भाव को अग्रसारित किया, परवर्ती अपने शिष्यों-प्रशिष्यों एवं सम्पर्क में आये जनसमुदाय को समझाया। और विभिन्न भाषाओं के माध्यम से वही 'तत्त्वोपदेश' क्रमश: 'श्रुत' से 'शास्त्र' के रूप में परिणत हुआ; जो उन्हीं-उन्हीं भाषाओं में अलग-अलग मिलता है। चूंकि मूलतत्त्व वही था, मात्र भाषा-भेद था; अत: सभी भाषाओं में निबद्ध मूल तत्त्वज्ञान को जिनवाणी मानते हुये "जिनवाणी उपर्युक्त बहुभाषामयी है" – ऐसे वाक्यप्रयोग सार्थक हुये।

किन्तु इससे यह कहाँ सिद्ध होता है कि भगवान् की दिव्यध्वनि में उपदिष्ट तत्त्वज्ञान को गूंथनेवाले सारे शास्त्र 'इतनी सारी भाषाओं की खिचड़ी' थे? इसका तो सीधा-सच्चा तात्पर्य यही है कि तीर्थंकर महावीर की शिष्य-परम्परा में इतनी सारी भाषाओं का अलग-अलग ज्ञान रखनेवाला विशाल शिष्य-समुदाय था, जिसने अपनी-अपनी भाषा में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'जिनोदित तत्त्वोपदेश' को समझकर उसे 'श्रुत' के रूप में जीवित रखा और फिर उन्हीं की परम्परा के लोगों में जिसने जिस-जिस भाषा में समझा-सीखा था, विस्मृति की प्रबलता होने पर उसी-उसी भाषा में उन्होंने लिपिबद्ध कर दिया। इसप्रकार भगवान् का दिया गया तत्त्वोपदेश अट्ठारह महाभाषाओं एवं सात सौ लघुभाषाओं किंवा क्षेत्रीय भाषाओं में निबद्ध हुआ। अत: शौरसेनी आदि महाभाषाओं किंवा राष्ट्रिय भाषाओं में निबद्ध आगम साहित्य तथा कन्नड़, मराठी, गुजराती, बंगला, मगही आदि क्षेत्रीय भाषाओं में निबद्ध साहित्य में तत्त्वज्ञान तो तीर्थंकर महावीर-प्रदत्त है; किंतु भाषा मूलत: उनकी नहीं है। वह उनके श्रोताओं की अपनी भाषा है। हाँ ! इतना अवश्य है कि कि जिन-जिन भाषाओं में आगम साहित्य मिलता है, उनका मूल महावीर के साक्षात् शिष्यों से जुड़ा हुआ है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि आपने शौरसेनी को 'महाभाषा' या 'राष्ट्रिय भाषा' कहा, – इसका अभिप्राय एवं आधार क्या है? यह प्रश्न अत्यन्त स्वाभाविक है। क्योंकि आज तक अन्य भाषाओं के राष्ट्रीय स्तर की भाषा या महाभाषा न होते हुये भी सुनियोजित रूप से इतने गीत गाये गये हैं, कि सुन-सुनकर कानों में भी वही प्रतिध्वनि गूंजने लगी है। जबकि यह 'झूठ को सौ बार बोलो, तो वह सत्य प्रतीत होने लगता है' – इस मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त का प्रयोग मात्र था। साथ ही विडम्बना यह भी रही कि शौरसेनी प्राकृत, जो कि न केवल जनभाषा, महाभाषा, राष्ट्रीय भाषा थी; अपितु महावीर के तत्त्वज्ञान के गृहीता सर्वाधिक वृहत् श्रमण समुदाय की भाषा भी थी; के बारे में पिछली 2-3 शताब्दियों में शायद ही किसी विद्वान् ने भूले-भटके चर्चा भी की हो। अत: शौरसेनी की महिमा को उजागर किये जाने पर ऐसे प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठते हैं। इसका निष्पक्ष एवं सप्रमाण समाधान निम्नानुसार है—

शौरसेनी प्राकृत की जन्मभूमि भले ही शूरसेन (मथुरा-ब्रज) प्रदेश रहा हो, किन्तु यह देश के कोने-कोने में लोक-साहित्य की सर्वाधिक जनसमादृत भाषा रही है। इसीलिए ईसापूर्व तृतीय शताब्दी में 'नाट्यशास्त्र' के प्रणेता भरतमुनि को यह सिद्धान्त बनाना पड़ा कि— **"शौरसेनीं समाश्रित्य भाषा कार्या तु नाटके।**
अथवा छंदत: कार्या देशभाषा प्रयोक्तृभि:।। 17/46।।

अर्थ:—नाटकों में जनसामान्य के भावों को स्वर प्रदान करने के लिये शौरसेनी प्राकृत का आश्रय लेकर ही भाषा का प्रयोग करना चाहिये। यदि क्षेत्रीय भाषा में नाटक का लेखन हो रहा हो, तो उस देश (क्षेत्र) की भाषा को वहाँ के प्रचलित छंदों के माध्यम से प्रस्तुत करना चाहिये।

इस कथन से स्पष्ट है कि यदि राष्ट्रिय स्तर पर किसी महाभाषा में नाट्य-साहित्य या लोक-साहित्य का सृजन करना हो, तो उसमें एकमात्र शौरसेनी प्राकृत का ही प्रधानत: प्रयोग किया जाना चाहिये; अन्य किसी प्राकृत का नहीं। अर्थात् भरतमुनि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
लोकजीवन की महाभाषा किंवा राष्ट्रिय भाषा के रूप में शौरसेनी प्राकृत को असन्दिग्ध रूप से स्वीकार करते थे; अतएव उन्होंने लोकसाहित्य एवं नाट्य साहित्य के प्रणेताओं को शौरसेनी प्राकृत में साहित्य-सृजन करने का आदेश दिया। तथा कभी प्रसंगवशात् आवश्यकता पड़े, तो सीमित क्षेत्रीय भाषाओं के प्रयोग की भी छूट दी है।

आचार्य भरतमुनि के इस सन्देश को आर्षवाक्य मानकर महाकवि भास, कालिदास जैसे विश्वविख्यात कालजयी साहित्यकारों ने अपने नाट्य-साहित्य में सत्तर से पचहत्तर प्रतिशत तक शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग किया तथा पात्रानुसार क्वचित्-क्वचित् मागधी, पैशाची आदि भाषाओं के प्रयोग भी किये। किंतु आश्चर्य की बात है कि जिसके 'महाभाषा' होने के गीत दशकों से सस्वर गाये जा रहे हैं, उस अर्द्धमागधी प्राकृत का एक भी प्रयोग इन नाटकों में किसी भी पात्र के द्वारा नहीं किया गया। चूँकि लोकजीवन में पात्र जैसी भाषा बोलते थे, वैसा ही प्रयोग नाटककारों ने किया है। —इससे सुतरां सिद्ध है कि 'अर्द्धमागधी प्राकृत' न तो कभी लोकभाषा रही न ही जनजीवन में उसका प्रचलन रहा। किन्तु श्वेताम्बर आगम साहित्य में अवश्य उसके बहुविधरूप उपलब्ध होते हैं।

जो यह प्रश्न किया जाता है कि तीर्थंकर के उपदेश की भाषा 'अर्धमागधी' कही गयी है, उसका क्या कारण है? तो बन्धु ! तीर्थंकर की दिव्यध्वनि श्रवण-सम्बन्धी व्यवस्था करनेवाले देवों का नाम 'मागध' था, अत: उसके निमित्त से ही श्रोतागण समवशरण में तीर्थंकर की दिव्यध्वनि सुन पाते थे; अत: उन मागध देवों के नाम से तीर्थंकर की वाणी को 'अर्द्धमागधी' कहा गया; क्योंकि उनमें श्रोताओं के भाषाओं का वैशिष्ट्य भी सम्माहित था। वह आज की 'अर्द्धमागधी प्राकृत' नहीं थी, क्योंकि यह तीर्थंकरों के काल में पैदा भी नहीं हुई थी।

एक तथ्य यह भी महत्त्वपूर्ण एवं ध्यातव्य है कि अधिकांश वैयाकरणों ने भी अर्द्धमागधी प्राकृत का व्याकरण नहीं लिखा, यहाँ तक कि महान् वैयाकरण श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्र ने भी अपने 'शब्दानुशासन' में अर्द्धमागधी के नियमों के निर्माण एवं विवेचन में अधिक रुचि नहीं दिखायी। जबकि शौरसेनी, मागधी एवं पैशाची आदि ईसापूर्व की तथा 'महाराष्ट्री' जैसी ईसा-उपरान्त की भाषाओं का विशद व्याकरणिक विवेचन किया है। जबकि उनके समय (लगभग दसवीं शता०ई०) तक 'अर्द्धमागधी आगम साहित्य' स्पष्ट आकार ले चुका था।

इसके साथ ही यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि ईसापूर्व 200 में हुये आचार्य गुणधर रचित पेज्जदोस-पाहुड' (अपरनाम 'कसायपाहुड'), षट्खण्डागम सिद्धान्त का सौराष्ट्र प्रान्त में उपदेश करने वाले आचार्य धरसेन (ई०पू० 100) तथा उनसे सीखकर सर्वप्रथम आगम साहित्य को 'छक्खंडागमसुत्त' (षट्खण्डागमसूत्र) के रूप में लिपिबद्ध करनेवाले महान् आचार्यद्वय भूतबलि एवं पुष्पदन्त, जिन्होंने आन्ध्रप्रदेश में जाकर ग्रंथ-रचना की; ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के युगप्रधान आचार्य कुन्दकुन्द के प्राभृत-ग्रन्थों, जिनकी रचना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तमिल प्रान्त में हुई; ईसा की दूसरी शताब्दी में हुये 'कसायपाहुड' के चूर्णिकर्त्ता लेखक आचार्य यतिवृषभ की चूर्णियों एवं 'तिलोयपण्णत्ति' आदि ग्रंथों; छठवीं शताब्दी ई० के सर्वज्ञतुल्य महाज्ञानी आचार्य वीरसेन स्वामी; जिन्होंने चित्तौड़-राजस्थान प्रान्त में 'धवला', 'जयधवला' जैसे महान् टीकाग्रन्थों का प्रणयन किया; दसवीं शताब्दी ई० में कर्नाटक प्रान्त में हुये आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती आदि के 'गोम्मटसार' आदि ग्रंथों — इन सबमें शौरसेनी प्राकृत के ही प्रयोग क्यों मिले? जबकि ये सभी आचार्य विभिन्न कालखण्डों में तथा शूरसेन प्रदेश से भिन्न भारतवर्ष के विभिन्न क्षेत्रों में हुये थे; फिर भी इन सबने शौरसेनी प्राकृत को ही क्यों अपनाया?

इस सबका सीधा-सच्चा एक ही उत्तर है कि शौरसेनी प्राकृत ईसापूर्व काल से लेकर लगभग दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी ई० तक आदर्श साहित्य भाषा एवं बहुश्रुत-बहुप्रचलित लोकभाषा रही। अत: आगम साहित्य एवं श्रुतसदृश साहित्य का सृजन इसी भाषा में देश भर में हुआ। यही नहीं, लोकसाहित्य के प्रणेता ईसोत्तरकालवर्ती शूद्रक (छठवीं शताब्दी ई०) जैसे महाकवियों ने भी 'मृच्छकटिकम्' जैसे अमर नाटकों में अधिकांश प्राकृतों का प्रयोग किया। विद्वानों का विचार है कि कवि शूद्रक ने लगभग बारह तरह की प्राकृतों का विभिन्न पात्रों के माध्यम से प्रयोग किया, किन्तु सर्वाधिक परिमाण में उन्होंने शौरसेनी प्राकृत का ही प्रयोग किया। साथ ही यह भी विचारणीय है कि उसमें भी अर्द्धमागधी प्राकृत का एक भी प्रयोग नहीं है, जबकि इस समय तक अर्द्धमागधी का भाषिक ढाँचा श्वेताम्बर आगम साहित्य के माध्यम से गठित हो चुका था।

यह बात किसी विद्वेष, पक्षपात या पूर्वाग्रह की भावनाओं से प्रेरित होकर नहीं लिखी जा रही है; अपितु यह तथ्यों का उद्भावन है, जिस पर विद्वज्जगत् का ध्यानाकर्षण अपेक्षित है।

यदि लोकसाहित्य-प्रणेताओं ने शौरसेनी का सर्वाधिक प्रयोग किया, वैयाकरणों ने अन्य प्राकृतों के व्याकरणिक ढाँचे के निर्माण के लिए शौरसेनी को आदर्श माना एवं 'प्रकृति: शौरसेनी' जैसे प्रयोग अनेकत्र दिये, तथा जैन साहित्यकारों ने भी देश के हर कोने में विभिन्न कालखण्डों में सहस्राब्दियों तक इसी भाषा में साहित्य सृजन किया; तो ये सब तथ्य सत्यापित एवं असन्दिग्धरूप से प्रमाणित करते हैं कि शौरसेनी प्राकृत सहस्राब्दियों तक इस देश के कोने-कोने में जनता-जनार्दन की भावनाओं को स्वर प्रदान करती रही एवं संतों के संदेश जनसामान्य तक पहुँचाती रही है।

यह बात अलग है कि पिछली एक-डेढ़ शताब्दियों से सुनियोजित तरीके से शौरसेनी की घनघोर उपेक्षा की गयी तथा 'आगम भाषा' के रूप में ऐसी प्राकृत का धुँआधार प्रचार किया गया, जो कभी 'राष्ट्रभाषा' या 'महाभाषा' तो क्या 'जनभाषा' भी नहीं रही। अत: गौरवशाली होते हुये भी हमारे ही अज्ञान के कारण उपेक्षित रही 'शौरसेनी प्राकृत' के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुनरुत्थान की भावना से विद्वज्जगत् से यह अपेक्षा है कि वह अपनी भूल को सुधारें और देश की प्रमुख महाभाषा-राष्ट्रभाषा तथा मूल आगमभाषा 'शौरसेनी प्राकृत' के स्वरूप, महत्त्व एवं व्यापकता को उजागर करें। अन्यथा 'नर-मादा' जैसे प्रयोग, जो देशभर की प्राय: सभी भाषाओं में मिलते हैं—अपनी पहिचान खो बैठेंगे। इनमें 'नर' शब्द संस्कृतभाषा का है, तो 'मादा' शब्द शौरसेनी प्राकृत का है। ऐसे और भी अनेकों प्रयोग देश भर में प्रचलित हैं, जो कि संस्कृत एवं शौरसेनी प्राकृत की आर-पार मित्रता, सौहार्द एवं पारस्परिक पूरकता को द्योतित एवं सत्यापित करते हैं। विचारकों एवं शोधार्थियों से निवेदन है कि वह भारत की इस भाषिक सहिष्णुता की आत्मा को पहिचानें एवं अपनी शोध के द्वारा रेखांकित करें। शौरसेनी प्राकृतभाषा के स्वरूप एवं विस्तार को समझे बिना भारत की प्रधान साहित्यिक भाषा संस्कृत एवं अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के मध्य क्रमिक विकास एवं पारस्परिक सम्बन्ध का बोध नहीं होगा। इस तरह भाषायी आधार पर क्षेत्र-विभाजन की क्षुद्र राजनीति चलती रहेगी और भारत की भाषिक आत्मा के बोध के अभाव में राष्ट्रिय एकता एवं अखंडता का उदात्त चिंतन नहीं हो सकेगा—जो कि वर्तमान सन्दर्भों में राष्ट्रिय आवश्यकता है।

भारत की राष्ट्रिय एकता एवं भाषिक आत्मा की प्रतिध्वनि शौरसेनी प्राकृत के बारे में वरिष्ठतम विद्वान् **प्रो० नथमल जी टांटिया** के दो टूक उल्लेखों एवं सप्रमाण विवेचनों के बाद शौरसेनी के बारे में समस्त दुविधा एवं भ्रम दूर हो गये हैं तथा एक नयी चेतना का संबल मिला है। वे महान् गवेषी एवं निष्पक्ष तलस्पर्शी विद्वान् हैं। उनके गवेषणापूर्ण विचारों को सुनकर विचारना एवं पचाना चाहिये, न कि मात्र पूर्वाग्रह से बलात् झुठलाने का आयास करना चाहिये।

सभी भाषानुरागियों से आत्मीयतापूर्ण विनम्र अनुरोध है कि वे राष्ट्रभाषा हिन्दी की मातामही (नानी) शौरसेनी प्राकृतभाषा के पुनरुत्थान एवं विकास की भावना से इस निष्पक्ष एवं राष्ट्रिय महत्त्व के कार्य में अग्रसर हों। तथा 'नर-मादा' जैसी विपुल शब्द-सम्पदा के मूलरूप को, इसके देश-कालावच्छिन्न व्यापक प्रसार के महत्त्व को पहिचानें, स्वीकारें एवं जनहित में प्रचारित करें।

"प्राकृत का अस्तित्व निश्चितरूप से वैदिक बोलियों के साथ-साथ वृर्तमान था। इसी प्राकृत से परवर्ती साहित्यिक प्राकृतों का विकास हुआ। वेदों एवं पण्डितों की भाषा के साथ-साथ, यहाँ तक कि मन्त्रों की रचना के समय भी एक ऐसी भाषा प्रचलित थी जो पण्डितों की भाषा से अधिक विकसित थी। इस भाषा में मध्यकालीन भारतीय बोलियों की प्राचीनतम अवस्था की प्रमुख विशेषताएँ वर्तमान थीं।"

—पी०डी० गुणे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"सरस्सदी-त्थुदि"

—मुनि श्री कनकोज्ज्वलनन्दि

संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली में प्राकृतभाषा पाठ्यक्रम के शुभारम्भ के अवसर पर 'सरस्वती वंदना' के रूप में प्राकृतभाषा-निबद्ध यह 'सरस्वती-स्तुति' प्रथम बार गायी गयी तथा तब से प्रतिदिन प्राकृतभाषा की कक्षा में इसका समूहगान होता है, तदुपरान्त कक्षा प्रारम्भ होती है। 'प्राकृतविद्या' के जिज्ञासु पाठकवृन्द की सेवा में यह सानुवाद प्रस्तुत है।

—सम्पादक

सरस्सदी-पसादेण, कव्वं कुव्वंति माणवा।
तम्हा णिच्चल-भावेण, पूयणीया सरस्सदी।। 1।।

अर्थ:—सरस्वती की कृपा से मनुष्य काव्य-रचना करते हैं; अत: निश्चल (एकाग्रचित्त) भाव से सरस्वती पूजनीय हैं।

सव्वण्हु-मुहुप्पण्णा, जा भारदी बहुभासिणी।
अण्णाण-तिमिरं हंति, विज्जा-बहुविगासिणी।। 2।।

अर्थ:—सर्वज्ञ परमात्मा के श्रीमुख से समुत्पन्न जो 'भारती' (सरस्वती) है, वह अनेक भाषामय है। वह अज्ञानरूपी अंधकार का विनाश करती है तथा अनेक प्रकार की विद्याओं का बहुविध प्रकाशन करती है।

सरस्सदी मए दिट्ठा, दिव्वा कमललोयणा।
हंसक्खंध-समारूढा, वीणा-पुत्थगधारिणी।। 3।।

अर्थ:—सरस्वती (का जो लौकिक रूप) मेरे द्वारा देखी गयी है, वह दिव्य आकृतिवाली एवं कमल-सदृश आँखोंवाली है। हंस के स्कन्ध पर आरुढ़ तथा वीणा एवं पुस्तक को धारण किये हुये है।

(यहाँ 'कमल' निर्लिप्तता का, 'हंस' नीर-क्षीरन्याय का, 'वीणा' यथावत् कथन का तथा 'पुस्तक' ज्ञाननिधि का प्रतीक मानकर प्रयुक्त हैं।)

पढमं भारदी णाम, विदियं च सरस्सदी।
तदियं सारदादेवी, चदुत्थं हंसगामिणी।। 4।।

अर्थ:—सरस्वती का प्रथम नाम 'भारती' है, दूसरा नाम 'सरस्वती' है, तीसरा नाम 'शारदा देवी' है और चौथा नाम 'हंसगामिनी' है।

पंचमं विदुसां मादा, छट्ठं वागिस्सरी तहा।
कुमारी सत्तमं उत्तं, अट्ठमं बंभचारिणी।। 5।।

अर्थ:—पाँचवाँ नाम 'विद्वन्माता' है, छठवाँ नाम 'वागीश्वरी' है, सातवाँ नाम

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'कुमारी' है तथा आठवाँ नाम 'ब्रह्मचारिणी' है।

णवमं च जगम्मादा, दसमं बंभणी तहा।
एगारसं च बंभाणी, बारसं वरदा हवे।। 6।।

अर्थ:—नवमा नाम 'जगन्माता' है, दसवाँ नाम 'ब्रह्मणी', ग्यारहवाँ नाम 'ब्रह्माणी' है तथा बारहवाँ नाम 'वरदा' (वरदायिनी) है।

वाणी या तेरसं णाम, भासा चेव चदुद्दसं।
पंचदसं सुददेवी, सोलहं गो वि भण्णदे।। 7।।

अर्थ:—उनका तेरहवाँ नाम 'वाणी' है, चौदहवाँ नाम 'भाषा' है, पन्द्रहवाँ नाम 'श्रुतदेवी' है तथा सोहलवाँ नाम 'गो' भी कहा जाता है।

एदाणि सुद-णामाणि, पच्चूसे जो पढिज्जदि।
तस्स संतुट्ठदि मादा, सारदा वरदा हवे।। 8।।

अर्थ:—इस श्रुत (सरस्वती) की नामावलि को 'प्रत्यूष' काल में जो पढ़ता है, उस पर माँ सरस्वती वरदायिनी होकर प्रसन्न होती हैं।

सरस्सदि! णमो तुम्हं, वरदे कामरूविणी।
विज्जारंभं करिस्सामि, सिद्धी हवदु मे सया।। 9।।

अर्थ:—हे सरस्वती! तुम्हें नमस्कार है, तुम वर देने वाली एवं कामरूपिणी हो। (मैं आपका स्मरण करके) विद्याध्ययन आरम्भ करता हूँ। मुझे सदा सिद्धि (ज्ञानप्राप्ति) हो (ऐसी भावना है।)

काव्य-दोष

"अतिपरुष-वचन-विन्यासत्व-कन्वित-गतार्थत्वं, दुर्बोधानुपपन्न-पदोपन्यासम्, अयथार्थ-यति-विन्यासत्वम्, अभिधानाभिधेय-शून्यत्वम्-इति काव्यस्य दोषा:।"

—(नीतिवाक्यामृत : आचार्य सोमदेव सूरि)

अर्थ:—काव्य के दोष निम्नलिखित हैं : 1. अत्यन्त कर्कश वाक्यरचना, 2. असम्बद्ध एवं उक्तार्थ की पुनरावृत्ति करना, 3. कठिनाई से समझ में आने योग्य (दुर्बोध) पदों का प्रयोग करना, 4. व्याकरण से सिद्ध न होने वाले पदों का प्रयोग करना, 5. अनुचित स्थानों पर 'यति' (विराम) का प्रयोग करना, 6. कोशग्रन्थों आदि में कथित शब्दों के प्रयोग से शून्य होना।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(विद्वद्वर्य जुगल किशोर जी मुख्तार द्वारा विरचित 'मेरी भावना' का संस्कृत-रूपान्तरण)

मम भावना

–धन्य कुमार जैनी, *सोलापुर (महाराष्ट्र)*

रागद्वेषौ जित्वा येन ज्ञातं त्रिलोकमखिलं हि।
उपादिशदखिलजीवन् निःस्पृहवृत्त्यैव मोक्षमार्गं सः।। 1।।
बुध्द-जिन-हरि-हरो वा ब्रह्मा स्वाधीन भवतु कोऽपि सः।
मे भक्ति-युक्तचित्तं भवतु निमग्नं हि तच्चरणे।। 2।।
विषयाशा-रहिता ये समताभावं हि धारयन्ति मुदा।
निज-परहिते निमग्नाः भवन्ति ते तत्पराः सततम्।। 3।।
स्वार्थ-त्यागस्य तपः खेदेन बिना हि आचरन्ति खलु।
ये साधवो हरन्ति च दुःख-समूहान् क्षणे एव।। 4।।
सत्सङ्गोऽस्तु च तेषां तद्ध्यानमहर्निशं मे भवतु।
तेषां चर्यायां मम मनोऽनुरक्तं भवेन्नित्यम्।। 5।।
पीडेयं न कदापि च जीवान् ब्रूयामलीकवादं न।
परधन-वनितां नेष्ये पिबामि सन्तोष-पीयूषम्।। 6।।
गर्विष्ठो न भवेयं नापि च कुप्ये कदापि इतरेभ्यः।
दृष्ट्वान्येषां प्रगतिं भवामि न कदापि ईर्ष्यालुः।। 7।।
गुणिनो दृष्ट्वा चित्तं भवतु सदा प्रेमपूरितं मम हि।
कृत्वा सेवां तेषां भवतु सुखी मन्मनो नित्यम्।। 8।।
मम भावनास्तु नित्यं व्यवहर्तुं कपटरहितहृदयेन।
यावच्छक्यं जन्मनि परोपकारो हि भवतु सदा।। 9।।
मैत्रीभावो लोके ममास्तु सकलेषु जीवमात्रेषु।
वहतु च करुणास्रोतं मदन्तरात् दीनदलितेषु।। 10।।
क्षुभ्येऽहं न कदापि च कुमार्गचरितेषु दुष्ट-क्रूरेषु।
समताभावं हि भजे निरन्तरं तेषु जीवेषु।। 11।।
नैव भवामि कृतघ्नो नैव च द्रुह्यामि जीवमात्रेभ्यः।
गुणग्राहको भवामि च दोषान्वेषी भवामि न कदापि।। 12।।
निन्दतु शंसतु वा मां लोको लक्ष्मी च यातु वाऽऽयातु।
जीवेम दीर्घकालं मृत्युर्वाऽऽयातु अद्यैव।। 13।।
यद्यपि मां भावयितुं किंवा यतते प्रलोभितुं कोऽपि।
तदपि च्युतो भवामि न, न्यायान्मार्गात् प्रमादतः क्वापि।। 14।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न भवामि सुखे हृष्टः भीतो दुःखे भवामि न कदापि।
पर्वत-नदी-श्मशानात् वा भयभीतो भवामि न कदापि।। 15।।
भवतु सदा चित्तं मे अविचलमपि निश्चलं यथा मेरुः।
इष्ट-वियोगेऽनिष्टे योगे नित्यं समत्वमाप्नोतु।। 16।।
सर्वेऽपि सन्तु सुखिनः मा भयतीतोऽस्तु जन्तुरेकोऽपि।
त्यक्त्वां वैरं गर्वं मंगलगीतं सदैव गायन्तु।। 17।।
सर्वत्र धर्मचर्चा प्रचलतु दुष्कृत्यमस्तु फलहीनम्।
कृत्वा ज्ञानचरित्रे समुन्नते भवतु मनुकुलं च सुखी।। 18।।
जगति न प्रसरतु ईतिर्भीतिर्वर्षतु सकालपर्जन्यः।
राजा च धर्मनिष्ठो भूत्वा शास्तु स नयेन राष्ट्रं हि।। 19।।
जगति न प्रसरतु रोगो मृत्युरकालोऽनुभवतु शं लोकः।
परम अहिंसाधर्मः तनोतु सर्वत्र सर्वहितम्।। 20।।
प्रसरतु लोके प्रेम हि करोतु मोहः पलायनं च सदा।
शब्दानप्रियपरुषान् न कोपि स्वमुखेन उच्चरतु।। 21।।
वीराः भवन्तु सर्वे देशोन्नत्यां रताः भवन्तु सदा।
वस्तुस्वरूपं ज्ञात्वा सहन्तु दुःखान् प्रमोदेन।। 22।।

जीव अपने किये कर्म का फल भोगता है

कृष्ण उवाच— 'ततः कृष्णो जगौ भ्रातः! किं व्यर्थ-चेष्टितैः,
किं न ज्ञातं यथा सर्वे जीवाः स्वकृतभोगिनः।
यद् येन यादृशं कर्म संसारे समुपार्जितम्
तत् तेन तादृशं भ्रातर्नियमादनुभूयते।
शक्नुयुः सुखमाहर्तुं हर्तुं वा दुःख भंगिनाम्,
देवा यदि ततो घ्नन्ति मृत्युदुःखं निजं न किम्?

—हरिवंशपुराण, 65 सर्ग 47-49

अर्थः—इसके बाद श्रीकृष्ण ने कहा है कि भाई ! व्यर्थ चेष्टाओं से क्या प्रयोजन है? क्या आप नहीं जानते कि जीव अपने किये हुए को भोगता है? जिसने जैसा जो कर्म संसार में किया है, वह वैसे ही उस कर्मफल को नियमपूर्वक भोगेगा। यदि देवता प्राणियों के लिए सुख दे सकते, और दुःख निवारण कर सकते; तो फिर वे अपने ही मृत्यु-दुःख का निवारण क्यों नहीं कर लेते?"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"अच्चेलक्कं जगदि पूज्जं"

—डॉ० सुदीप जैन

हाल ही में इन्दौर से प्रकाशित 'तीर्थंकर (मासिक पत्र) के अक्तूबर '96 का अंक हस्तगत हुआ, उसमें 'नग्नता शुचिता का दर्पण है' —यह वाक्य विशेषत: ध्यानाकर्षक प्रतीत हुआ। यद्यपि नाग्न्य भी 'द्विजन्मा' होता है; अर्थात् एक तो व्यक्ति जन्मत: ही नग्न पैदा होता है, तथा जब तक उसे विषय-विकारों का परिचय प्राप्त नहीं होता है, वह सहजरूप में नि:संकोच नग्न रह लेता है। किन्तु ज्यों-ज्यों मनुष्य को विषय-विकारों से परिचय मिलता जाता है, वासनायें मन में अंगड़ाईयाँ लेने लगती है; तब शर्म और संकोच का कृत्रिम शिष्टाचार उस नाग्न्य को वस्त्र, वल्कल आदि आच्छादानों से आवृत्त करने को विवश कर देता है। तथापि कई पुण्यात्माओं के जीवन में ऐसा सुअवसर भी आता है, जब वे आत्मबल के द्वारा अपनी विषय-वासनाओं को जीत लेते हैं; तब उनके लिए वस्त्र आदि के आवरण का कोई औचित्य नहीं रह जाता, तथा वे बालकवत् निर्विकार होकर यथाजातरूप अंगीकार कर लेते हैं। यद्यपि नाग्न्य के दोनों रूप शुचिता के प्रतिबिम्ब हैं, तथापि नाग्न्य का यह द्वितीय जन्म अत्यन्त पावन तथा आत्महित एवं लोककल्याण के निमित्त अनुपम वरदान होता है।

जैन साधना में सांसारिक व्यामोह एवं बन्धनों को तोड़ सकनेवाला आत्मबली निर्ग्रन्थ अचेलक श्रामण्य को अंगीकार करता है। चूंकि वह 'अपरिग्रह महाव्रत' का संकल्प लेता है, अत: वस्त्राभूषण आदि भी स्वत: छूट जाते हैं। इसीलिये आभ्यान्तर मूर्च्छा किंवा ममत्व की ग्रंथि छूट जाने से स्वत: ही बांह्य वस्त्रादि के बन्धन भी छूट जाने के कारण जैनश्रमण **'णिग्गंठ'** अथवा **'निर्ग्रन्थ'** कहे जाते थे। प्राचीन वैदिक साहित्य में इसके पोषक-प्रमाण पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं—

(i) **"यथाजातरूपधरो निर्ग्रन्थो निष्परिग्रह:।"** —*(जाबालोपनिषद्, पृ० 130)*
(ii) **"यथाजातरूपधरो निर्ग्रन्थ:।"** —*(तैत्तिरीय आरण्यक, 10/63)*
(iii) **"श्रमणा: दिगम्बरा: श्रमणा वातवसना इति।"** —*(निघण्टु)*
(iv) **"नग्नो मुण्ड:..."** —*(मनुस्मृति, 8/93)*

इन्हें भारतीय साहित्य में 'क्षपणक' संज्ञा भी दी गयी है; वहाँ भी इन्हें नग्न दिगम्बर ही माना गया है—

(i) **"दिगम्बर: स्यात् क्षपणे नग्ने।"** —*(मेदिनी कोश, पृ०267)*
(ii) **"नग्नाटो दिग्वासा: क्षपण: श्रमणश्च जीवको जैन:।"** —*(हलायुध कोश, 2/190)*
(iii) **"नग्न: क्षपणक:"** —*'(गीता' का शांकरभाष्य 18/22)*
(iv) **"नग्नो विवाससि मागधे च क्षपणके"** —*(श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्रसूरि)*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यहाँ तक कि घोर नास्तिक चार्वाक ने भी 'क्षपणक साधु को नग्न' कहा है।[1]

जैनेतर वर्ग में जब जैनमत का निरसन करने का प्रसंग आया, तो उन्होंने इसका उल्लेख 'निर्वस्त्र मत' या 'निर्वस्त्र सम्प्रदाय' के रूप में किया है; यथा– 'ब्रह्मसूत्र' के 'शांकरभाष्य' में आद्य शंकराचार्य लिखते हैं—

"विवसनसमय इदानीं निरस्यते... ।"[2]

अर्थात् अब **विवसनमत-निर्वस्त्रमत (दिगम्बर सिद्धान्त)** का निराकरण करते हैं।

संस्कृत-हिंदी कोशकार वामन शिवराम आप्टे भी 'विवसन' शब्द का अर्थ करते समय इसका एक अर्थ 'नग्न जैन साधु'[3] भी करते हैं।

एक अन्य उल्लेख में भी जैनसाधु या भगवान् को 'नग्न' कहा गया है–

"शान्तमनसो नग्नान् जिनानां विदु:।" (वराहमिहिर)

इतना ही नहीं विश्व की प्राचीनतम सभ्यता के अवशेषों के रूप में परिगणित 'मो-अन-जो-दड़ो के पुरातात्त्विक अवशेषों से भी यह सिद्ध होता है कि **उस समय भी जैन श्रमण नग्न दिगम्बर ही होते थे।** इस तथ्य को स्वीकार करते हुये वर्तमान काल के प्रसिद्ध श्वेताम्बराचार्य **नथमल मुनि (आचार्य महाप्रज्ञ)** जी लिखते हैं कि "मो-अन-जो-दड़ो' की खुदाई से प्राप्त मूर्तियों की यह विशेषता है कि वे कायोत्सर्ग अर्थात् खड़ी मुद्रा में हैं, ध्यानलीन हैं और नग्न हैं।"[4]

प्रख्यात पुरातत्त्ववेता प्रो० प्राणनाथ ने 'मो-अन-जो-दड़ो' की एक मुद्रा पर 'जिनेश्वर' शब्द पढ़ा है। जिससे यह प्रमाणित होता है कि वे नग्न मूर्तियाँ जैनों के आराध्य देव की ही हैं।

जैनश्रमणों की महिमा जैनेतरों में भी अतिप्राचीन काल से रही है, और उन्होंने इसका मुक्तकंठ से गान भी किया है—

"सन्तुष्टा: करुणा: मैत्रा: शान्ता दान्तास्तितिक्षव:।
आत्मारामा: समदृश: प्रायश: श्रमणा जना:।।"[5]

अर्थ:–श्रमणजन सन्तोषी-वृत्तिवाले, करुणहृदय, प्राणिमात्र के साथ मैत्रीभाव रखनेवाले, शान्तचित्त, इन्द्रियजयी, आत्मतत्त्व में ही मग्न रहनेवाले एवं समदृष्टिवान् (समताभावी) होते हैं।

संभवत: जैनश्रमणों की इसी महत्ता को स्वीकार करते हुये महामनीषी भर्तृहरि ने भी भावना भायी है कि—

"एकाकी निस्पृह: शान्त: पाणिपात्रो दिगम्बर:।
कदा शम्भो ! भविष्यामि कर्म-निर्मूलन-क्षम:।।"[6]

अर्थ:–हे शम्भु ! मैं समस्त कर्मों के निर्मूलन में सक्षम, एकाकी, निस्पृह, शान्तचित्त, करतल-भोजी दिगम्बर (निर्ग्रंथ जैनश्रमण) कब बन पाऊँगा?

उनके इन शब्दों में दिगम्बर जैन-श्रामण्य को अंगीकार कर सकने योग्य सामर्थ्य मिलने की उत्कंठा एवं व्यग्रता अतिमुखरित है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गोविंदराजीय 'रामायण-भूषण' में भी जैन श्रमणों को 'दिगम्बर' कहा गया है। लगभग इसी की पुष्टि करते हुये 'दंसणपाहुड' के टीकाकार आचार्य श्रुतसागर सूरि स्पष्टत: लिखते हैं— **"श्रमणो दिगम्बरो भवति"**[7] अर्थात् जैनश्रमण दिगम्बर ही होते हैं।

इसके बारे में युक्तिप्रदर्शन करते हुये 'यशस्तिलक-चम्पू' के कर्त्ता लिखते हैं— **"नग्नत्वं सहजं लोके, विकारो वस्त्र-वेष्टनम्।"**[8] –अर्थात् लोक में जो सहज धर्म है, वह नाग्न्य है; तथा विकारोत्पत्ति होने पर वस्त्रों को ओढ़ा जाता है। अत: वस्त्र-वेष्टन विकारों की उपस्थिति का सूचक है।

संभवत: इन्हीं सब तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुये आचार्य कुन्दकुन्द ने दो हजार वर्षों से भी अधिक पहिले घोषणा कर दी थी कि 'श्रृंगार एवं परिग्रह की भावना से रहित दिगम्बरत्व ही लोक में पूज्य है'—

"णिब्भूसणं णिग्गंथं, अच्चेलक्कं जगदि पूज्जं।"[9]

अर्थ:–भूषण (श्रृंगार-भावना) एवं ग्रंथ (परिग्रह भावना) से रहित आचेलक्यधर्म (निर्ग्रंथ दिगम्बर जैन श्रामण्य) लोक में पूजनीय है।

वस्तुत: जैनश्रमण का मूलस्वरूप ही दिगम्बर किंवा अचेलक है। इस तथ्य को मतभेद के बावजूद श्वेताम्बराचार्यों ने भी स्वीकार किया है। आचार्य हरिभद्रसूरि लिखते हैं— **"निर्ग्रन्थ-एतेन मूलसंघादि-दिगम्बरा:"**[10] अर्थात् 'निर्ग्रन्थ' इस शब्द का मूल अर्थ मूलसंघवाले दिगम्बर ही हैं। उन्होंने 'निर्ग्रन्थ' (प्राकृतरूप 'णिग्गंठ') का अर्थ ही दिगम्बरत्व कर दिया है। चूंकि तीर्थंकर महावीर आदि के लिये उनके ग्रंथों में भी 'निर्ग्रन्थ' (णिग्गंठ) विशेषण प्राप्त होता है; जिससे स्पष्ट होता है कि वे महावीर-पर्यन्त सम्पूर्ण जैन तीर्थंकर-परम्परा एवं उनकी परम्परा के 'निर्ग्रन्थ श्रमणों' की मूलधारा को निस्संकोच 'दिगम्बर' स्वीकार कर रहे हैं।

तथापि एक सुचिंतित प्रवाद बहुत दिनों से फैलाया जा रहा है कि "तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ तक की परम्परा में जैन श्रामण्य में दिगम्बरत्व नहीं था, अर्थात् वे वस्त्र-धारण करते थे; तथा महावीर की परम्परा में दिगम्बरत्व आया।"[11] इसके पोषण में वे बौद्ध ग्रन्थों में आगत एक उल्लेख देते हैं—

"लोहिताभिजातानां निगण्ठा एकसाटिका' ति वदति।"[12]

अर्थ:–निर्ग्रन्थों के लाल रंग की एक साटिका (दीर्घ, बिना सिला वस्त्र) होती है – ऐसा कथन है।

—यह इस वाक्य का जैन सन्दर्भ में अधूरा अर्थ है। वास्तविकता यह है कि निर्ग्रन्थ जैनश्रमण बनने की प्रारम्भिक अवस्था में 'श्रावक' को भी उपचार से 'निर्ग्रन्थ' संज्ञा प्रयोग होती रही है। बौद्धग्रंथ 'चुल्लनिद्देश' में कथन मिलता है—

"निगण्ठ-सावकानां निगण्ठो देवता।"[13]

अर्थात् निर्ग्रन्थ श्रावकों के आराध्य देव भी पूर्ण निर्ग्रन्थ होते थे। आचार्य कुन्दकुन्द

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भी श्रावक के लिये उपचारतः 'निर्ग्रन्थ' शब्द का प्रयोग करते हैं।[14]

इस कथन से स्पष्ट है कि निर्ग्रन्थ-परम्परा के श्रावकों को भी सवस्त्र होते हुये भी उपचारतः 'निर्ग्रन्थ' संज्ञा व्यवहृत एवं स्वीकृत थी।

दिगम्बर-परम्परा में वर्णित 'श्रावकधर्म' में ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन आता है, उनमें ग्यारह प्रतिमाधारी 'क्षुल्लक' एक लाल वर्ण का बिना सिला साड़ी-सदृश वस्त्र धारण करते हैं। यह कथन उन्हीं के लिये है, न कि निर्ग्रन्थ जैनश्रमणं (साधु) के लिये। दिगम्बर-परम्परा के 'प्रतिक्रमण सूत्र' में भी स्पष्टतः उल्लेख मिलता है—**"वत्थेगधरो पढमो"**[15] अर्थात् प्रथम त्यागी यानि क्षुल्लक एक वस्त्र धारण करते हैं। किन्तु जैनश्रमणों के वस्त्र-धारण की परम्परा कदापि नहीं रही है। यदि ऐसा रहा होता, तो जैनेतर ग्रन्थों में कहीं तो जैनश्रमणों के लिये वस्त्र-धारण का उल्लेख मिलता। किन्तु वैदिक-ग्रंथों एवं बौद्ध-ग्रन्थों में जैन श्रमण के लिये वस्त्र-धारण का कहीं भी कोई उल्लेख न मिलने से सिद्ध है कि जैन श्रमणपरम्परा निर्ग्रन्थ अचेलकत्व की ही रही है। तथा प्राचीन सांस्कृतिक-प्रमाणों एवं पुरातात्त्विक-अवशेषों में भी समस्त जैन श्रमण-परम्परा निर्वस्त्र दिगम्बरत्व का ही निदर्शन रही है। नाग्न्य इस परम्परा का गौरवशाली परिचय-चिह्न था। इसीलिये श्रावक शिरोमणि चामुण्डराय (गोम्मटेश्वर के ऐतिहासिक दिगम्बर जिनबिम्ब के निर्माता) लिखते हैं—**"परममांगल्यं नाग्न्यमभ्युपगतस्य।"**[16]

—अर्थात् नग्नता परम मंगलस्वरूप है; इसको जिन्होंने प्राप्त किया, वे ही जैनश्रमण हैं।

सन्दर्भसूची

1. तत्त्वोपप्लवसिंह, 5/5/1, पृ० 79
2. ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य, 2/2/33
3. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० 953
4. 'अतीत का अनावरण' (भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन), पृ० 16
5. भागवत, 12/3/19
6. वैराग्य शतक, 89
7. 'दंसणपाहुड' गाथा 26 की टीका
8. यशस्तिलक-चम्पू, 5/261
9. मूलाचार, 30
10. प्रशमरतिप्रकरण, 8/142
11. द्रष्टव्य, पं० सुखलल जी सिंघवी-कृत 'दर्शन और चिंतन' : द्वितीय खंड, पृ० 88-90
12. अंगुत्तरनिकाय, भा० 1, 6/6/3।
13. चुल्लनिद्देश, 173
14. मूलाचार, 1174 (**"णिग्गंथ सावयाणं उववादो अच्चुदं जाव"**)
15. प्रतिक्रमण-सूत्र 12, नित्यपाठ-संग्रह 5, पृ० 248
16. द्र० चारित्रसार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शौरसेनी प्राकृत संगोष्ठी में पठित शोध-निबन्ध

भगवती आराधना में वर्णित आयुर्वेद-विद्या

—प्रो० डॉ० राजाराम जैन

आर्य सर्वगुप्त के शिष्य आचार्य शिवकोटि (अपरनम शिवभूति अथवा शिवार्य, प्रथम सदी ईस्वी के आसपास) द्वारा विरचित 2170 गाथा प्रमाण 'भगवती-आराधना' (अपरनाम मूलाराधना) नामक ग्रन्थ शौरसेनी प्राकृत के महिमामण्डित-ग्रन्थों में अग्रगण्य है। प्रस्तुत ग्रन्थ वस्तुत: ज्ञान-विज्ञान का अद्भुत विश्व-कोष माना जा सकता है। उसमें वर्णित आयुर्विज्ञान सम्बन्धी सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक वर्णन देखकर तो ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार सम्भवत: दीक्षा-पूर्वकाल में कभी स्वयं ही उस क्षेत्र का सिद्धहस्त चिकित्सक तथा चिकित्सा-शास्त्र-मर्मज्ञ अनुभवी तथा समाजशास्त्री विद्वान्-शिक्षक रहा होगा। बहुत सम्भव है कि उसने आयुर्वेदिक चिकित्सा एवं शरीर-संरचना-विज्ञान सम्बन्धी कोई विशाल स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखा हो, जो किसी परिस्थिति-विशेष में विस्मृत, अथवा प्रच्छन्न या नष्ट हो गया हो?

प्रस्तुत निबन्ध में उक्त ग्रन्थ में वर्णित समकालीन आयुर्वेद-सम्बन्धी तथ्यों को प्रकाशित करने का प्रयत्न किया गया है। —प्रधान सम्पादक

श्रमण-संस्कृति के इतिहास में द्वादशांग वाणी का विशेष महत्त्व है। उसके बारहवें 'दृष्टिवादांग' के पाँच भेदों में से 'पूर्वगत' नाम का एक प्रमुख भेद है। उसके भी 14 भेदों में से 'प्राणावाय' नामक प्रभेद सुप्रसिद्ध रहा है।[1] जैन-परम्परा के अनुसार आयुर्वेद की उत्पत्ति का मूलस्रोत वही 'प्राणावाय' नाम का पूर्वांग है। यथा—

"कायचिकित्सादि-अष्टांगायुर्वेद: भूतकर्मजांगुलिप्रक्रम: प्राणापानविभागोऽपि यत्र विस्तरेण वर्णितस्तत्प्राणावाय-पूर्वांगं।"

अर्थात् जिसमें काय, तद्गतदोष, और उनकी चिकित्सा आदि अष्टांग-आयुर्वेद का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया हो; पृथिवी आदि भूतों की क्रिया, विषैले जानवर तथा उनकी चिकित्सा आदि और प्राणापान का विभाग जिसमें किया गया वह हो; वह 'प्राणावाय नाम का पूर्वांगशास्त्र' कहा गया है। जैनाचार्यों ने उक्त 'प्राणावाय' से ही मूलस्रोत ग्रहण कर त्रिकालाबाधित जैनायुर्वेदिक-सिद्धान्तों एवं उनके ग्रन्थों की रचना की।[2] ऐसे आयुर्वेदज्ञ जैनाचार्यों में आचार्य समन्तभद्र[3], पूज्यपाद[4], सिद्धनागार्जुन[5], श्रुतकीर्ति[6], कुमारसेन[7], वीरसेन[8], पात्रकेशरी-स्वामी[9], सिद्धसेन[10], दशरथगुरु[11], मेघनाद[12], सिंघनाद[13], उग्रादित्य[14], अमृतनन्दि[15] एवं गुम्मटदेव मुनि[16] तथा कीर्त्तिवर्म[17], मंगराज[18], अभिनवचन्द्र[19], देवेन्द्रमुनि[20], जगदेकमहामन्त्रवादि श्रीधरदेव[21], साल्व[22], जगद्दलसोमनाथ[23] आदि प्रसिद्ध हैं।

एक उल्लेख के अनुसार आचार्य समन्तभद्र ने आयुर्वेद को आठ अंगों (Eight important branches of treatment) में विभक्त किया है[24]—

1. **काय-चिकित्सा** – श्वास, कास, प्रमेह, जलोदर, बुखार आदि से सम्बन्धित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समस्त धातुक शरीर की चिकित्सा।

2. **बाल-चिकित्सा अथवा कौमारमृत्य (Paediatrics)** – बालरोगादि तथा माताओं के रोगों की चिकित्सा।

3. **ग्रह-चिकित्सा (Psychiatrics)** – नाड़ीचक्र में दोषोत्पन्न रोगों की चिकित्सा।

4. **ऊर्ध्वांग-चिकित्सा (Orthorhime Larynggeology and opathalmology)**– आँख, कान, गला, नाक, दन्त एवं शिरोरोगों की चिकित्सा।

5. **शल्य-चिकित्सा (Surgery)** – शस्त्रास्त्रों द्वारा ऑपरेशन कर उनकी चिकित्सा।

6. **अगदतन्त्र अथवा दंष्ट्रा-चिकित्सा (Toxicology)** – सर्पादि विष-जन्तुओं द्वारा काटे जाने पर तथा स्थावर, जंगम के द्वारा विष के शरीर में प्रविष्ट हो जाने पर उसकी चिकित्सा।

7. **रसायनतन्त्र अथवा जरा-चिकित्सा (Geriatrics and Rejuvenation)**– पुनयौवन प्राप्त करने की चिकित्सा। एवं,

8. **वृष्य-चिकित्सा (Improving and Promoting the Sex Life)** – बाजीकरण चिकित्सा अथवा वीर्यशोधन, वीर्यवर्धन एवं सन्तानोत्पति के उपाय।

उक्त विषयों पर परवर्त्ती आयुर्वेदज्ञ जैनाचार्यों ने स्वरुचिपूर्वक अनेक ग्रन्थों की रचना की। इन ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों की प्रशंसा जैनेत्तर आयुर्वेदज्ञों ने भी मुक्तकण्ठ से की है।

आयुर्वेद के ख्यातिलब्ध विद्वान् पं० **गंगाधर गोपाल गुणे** ने उनके प्रति आदरभाव व्यक्त करते हुए लिखा है[25]—

"रसशास्त्र पर जैनाचार्यों ने विशेष श्रमसाध्य शोध-खोज की है। आज जो भी अनेकानेक सिद्धौषधियाँ आयुर्वेदीय वैद्य प्रचार में लाते हैं, वे जैनाचार्यों की प्रतिभा व अविश्रान्त खोजों की सुपरिणाम है। अनेक प्रतिभावान्, त्यागी, विरागी आचार्यों ने जीवनभर गहन वनों में एकान्तवास कर तथा विचारपूर्वक परिश्रम-प्रयोगपूर्वक अनुभव लेकर अनेक औषधरत्नों का भण्डार संग्रहीत कर रखा है। रसशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, निघण्टु एवं औषधिगुण–धर्मशास्त्र आदि अनेक शांस्त्रों का निर्माण अप्रतिमरूप से करके **इन जैनाचार्यों ने समस्त आयुर्वेद-जगत् पर बड़ा उपकार किया है।"**

अभी तक उपलब्ध जैन-ग्रन्थों में नौवीं सदी के प्रथम चरण के आचार्य उग्रादित्य-[26] कृत 'कल्याणकारक' ही प्रकाशित हो सका है, जो अष्टांग आयुर्वेद-विद्याका सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। उक्त ग्रन्थ के 25 अध्यायों में आयुर्वेद की उत्पत्ति एवं विकास की कथा बतलाकर पूर्ववर्त्ती जैनाचार्यों के अनेक सन्दर्भ प्रस्तुत-किए हैं, जो आयुर्वेदिक इतिहास की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

जैन आयुर्वेदज्ञों की यह विशेषता रही है कि आयुर्वेद को उन्होंने पीड़ित प्राणियों की सेवा का ही माध्यम बनाया, न कि अपनी स्वार्थपूर्त्ति अथवा धनार्जन का माध्यम। उन्होंने निरन्तर ही अहिंसक वस्तुओं के मिश्रण से औषधियों के निर्माण किए। क्षणभंगुर शरीर की रक्षा के लिए अन्य जीवों के शरीरावयवों को उदरस्थ कर लेने का उपदेश या विधान उसमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भूलकर भी नहीं किया गया। जहाँ जैनेतर आयुर्वेदज्ञों ने औषधियों के निर्माण में मल-मूत्र, अस्थि, चर्म, रक्त एवं माँस आदि के प्रयोग के स्पष्ट विधान किए हैं; तथा क्वचित् कदाचित् गोरक्त, गौमाँस, मानवावयव तक के योग जैनेतर वैद्यक-ग्रन्थों में मिलते हैं; जब कि जैनाचार्यों ने मद्य एवं मधु तक को त्याज्य बतलाया है। आसव एवं अरिष्ट, जिनमें एकेन्द्रिय तो क्या, दो इन्द्रिय जीव तक आँखों से देखे जा सकते हैं; जैन औषधि-निर्माण में त्याज्य बतलाए गए हैं। अवलेह आदि की भी मर्यादा बतलाई गई है; क्योंकि उनमें सीमावधि के बाद आधुनिक खुर्दबीन आदि के द्वारा दो इन्द्रिय जीव देखे गए हैं। इन्हीं कारणों से जैनाचार्यों ने तरल पदार्थों द्वारा चिकित्सा के स्थान पर रसादि-चिकित्सा पर अधिक जोर दिया है। 'पुष्पायुर्वेद' जैनाचार्यों की ही देन है, जो जैन औषधि-निर्माण की आश्चर्यजनक अहिंसक पद्धति है और जैनाचार्यों ने ई०पू० की सदियों में ही लगभग 18000 प्रकार के पक्व एवं स्वयं-पतित पुष्पों के प्रयोग से अनेक चूर्ण एवं रसायन तैयार कर पीड़ित प्राणियों की अचूक सेवा की थी। इस 'पुष्पायुर्वेद' की विश्व के अनेक चिकित्सकों ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है।[27] वर्तमान के Botanical Survey के अनुसार भारत में केवल 15000 प्रकार की पुष्प जातियाँ ही बची हैं, बाकी की किन्हीं कारणों से नष्ट हो चुकी हैं।

इस निबन्ध का मुख्य उद्देश्य शौरसेनी प्राकृत में लिखित 'भगवती-आराधना' में उपलब्ध आयुर्वेदविद्या-सम्बन्धी सामग्री को मुखर करना है। 'भगवती-आराधना' का मूल विषय वस्तुतः आयुर्वेद नहीं, बल्कि मुनि-आचार है। प्राप्त परम्परा के अनुसार सुपात्रों को मुनि-दीक्षा के पूर्व देश एवं समाज की सभी परिस्थितियों का यथासम्भव सम्यक्ज्ञान तथा लोकजीवन एवं लोकाचार का पारदर्शी ज्ञान अनिवार्य माना गया है। क्योंकि मुनि-आचार्यगण अध्यात्मयोगी होने के साथ-साथ शास्त्रकार, साहित्यकार, प्रवचनकार एवं इतिहास-निर्माता भी होते थे। अतः उन्हें धर्म-साधना के साथ-साथ प्रायः सभी विद्याओं तथा प्रायः समस्त प्राणधारियों का वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक ज्ञान भी अनिवार्य था। अतः पूर्ण शिक्षा की प्राप्ति के बाद ही उन्हें दीक्षा-योग्य माना जाता था। इन सभी की जानकारी के लिए सर्वश्रेष्ठ उदाहरण 'भगवती-आराधना' में मिलता है, जिसमें उसके लेखक ने मुनि आचार और जैनधर्म के विविध सिद्धान्तों के साथ-साथ 'अष्टांग-आयुर्वेद' के काय-चिकित्सा, ग्रह-चिकित्सा, शल्य-चिकित्सा, ऊर्ध्वांग-चिकित्सा, आदि पर सुन्दर प्रकाश डाला है। इनके अतिरिक्त भी उसमें शरीर-संरचना, भ्रूण-विज्ञान (Anatomy, physiology and embroyology) विविध व्याधियों एवं उनके निदान तथा औषधियों आदि विषयों पर भी सुन्दर प्रकाश डाला गया है। उसके लेखक ने यद्यपि अपने ग्रन्थ-लेखन की स्रोत-सामग्री की चर्चा नहीं की; किन्तु विदित होता है कि जिन ग्रन्थों का उसनें अध्ययन किया होगा, बाद में वे ग्रन्थ या तो नष्ट हो गए या वर्तमान में देश-विदेश के प्राच्य शास्त्रभण्डारों में कहीं अप्रकाशितरूप में छिपे पड़े हैं। फिर भी मेरी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दृष्टि से परवर्त्ती आयुर्वेदज्ञ जैनाचार्यों के सम्मुख 'भगवती-आराधना' ग्रन्थ अवश्य रहा होगा और उससे विषय-सामग्री लेकर आचार्यों ने अपने ज्ञान एवं अनुभवों के आधार पर उसे पर्याप्त विकसित किया है। जैनेतर आयुर्वेदाचार्यों ने भी जैनायुर्वेद-ग्रन्थों से पर्याप्त प्रेरणाएँ ली हैं, इसके अनेक सन्दर्भ 'माधवनिदान' आदि ग्रन्थों में मिलते हैं।[28]

'भगवती आराधना' में वर्णित शारीरिक संरचना, रोगों एवं विभिन्न चिकित्साओं का संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत है–

शारीरिक संरचना – (Anatomy & Physiology)

1. मानव-शरीर का ढाँचा अस्थियों से बना है। उसे 'अस्थिपंजर' भी कहा जाता है, जो माँस, चर्म, शिराएँ, धमनियाँ, स्नायु आदि कोमल अंगों को शरीर के भीतरी गह्वरों में सुरक्षित रखने का आधार है। माँस, पेशी, पेशीबन्धन, बन्धनी, सौत्रिक-तन्तु आदि इसी से लिपटे रहते हैं। आचार्य शिवकोटि के अनुसार मनुष्याकार के अस्थिपंजर में कुल 300 सौ अस्थियाँ (Bones) है, जो 'मज्जा' (Marrow) नाम की धातु से भरी हुई हैं। इसीप्रकार उसमें 300 सन्धि-स्थल (Joints) है। यथा—

अट्ठीणी हुंति तिण्णि हु सदाणि भरिदाणि कुणिममज्जाए।
सव्वम्मि चेव देहे संधीणि हवंति तावदिया।।—*(गा० 1027)*

2. मानव शरीर में 900 स्नायु तन्त्र (ligaments) है, 700 सिराएँ (veins) और 500 मांसपेशियाँ (muscular system) है यथा—

ण्हारुण णवसदाइं सिरा सदाणि हवंति सत्तेव।
देहम्मि मंसपेसीण हुंति पंचेव य सदाणि।। —*(गा० 1028)*

3. मानव शरीर में शिराओं के 4 जाल (Network of canals) है, 16 कंडरा (रक्तभरित महाशिराएँ अर्थात् बड़ी मोटी नसें) हैं, 6 मूल शिराएँ है और 2 माँसरज्जू (एक पीठ एवं एक पेट के आश्रित) हैं। यथा—

चत्तारि सिराजालाणि हुंति सोलस य कंडराणि तहा।
छच्चेव सिराकुच्चा देहे दो मंसरज्जू य।। —*(गा० 1029)*

4. इस मानव-देह में 7 त्वचाएँ (Skin) हैं और 7 कालेयक (माँस-खण्ड) और 80 लाख कोटि रोम (Pores of the skin) हैं। यथा—

सत्त तयाओं कालेज्जयाणि सत्तेव होंति देहम्मि।
देहम्मि रोमकोडीण होंती सीदी सदसहस्सा।। —*(गा० 1030)*

5. पक्वाशय एवं आमाशय (Deodenum and stomach) में सोलह आँते रहती है। मानव देह में दुर्गन्धित मलवाले 7 आशय है। यथा—

पक्कासयासयत्था य अंतगुंजाओ सोलह हवंति।
कुणिमस्स आसया सत्त हुंति देहे मणुसस्स।। —*(गा० 1031)*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

6. मानव-शरीर में 3 स्थूणा अर्थात् वात, पित्त एवं कफ हैं और 107 मर्मस्थान हैं। 9 व्रणमुख या मलद्वार हैं। यथा—

थूणाओ तिण्णि देहम्मि होंति सत्तुत्तरं च मम्मसदं।
णव होंति वणमुहाइं —*(गा० 1032)*

7. मानव-शरीर में मस्तक अपनी अंजुलि से एक अंजुलि-प्रमाण है। मेद, ओज, अर्थात् शुक्र ये दोनों भी 1-1 स्वांजुलि-प्रमाण जानना चाहिए। तीन अंजुली-प्रमाण वसा (चर्बी) तथा पित्त का प्रमाण 6 अंजुलि मात्र है; श्लेष्म अर्थात् कफ की मात्रा भी 6 अंजुलि-प्रमाण तथा रुधिर का प्रमाण आधा आढक है। यथा—

देहम्मि मच्छुलिंगं अंजलिमित्तं सयप्पमाणेण।
अंजलि मित्ता मेदो उज्जोवि य तत्तिओ चेव।।
तिण्णि य वसंजलीओ छच्चेव य अंजलीओ पित्तस्स।
सिंभो पित्त-समाणो लोहिदमद्धाढगं होदि।। —*(गा० 1033-34)*

8. मानव-देह में मूत्र एक आढक प्रमाण है और उच्चार-विष्ठा 6 प्रस्थ प्रमाण है। स्वाभाविकरूप से नख-संख्या 20 और दन्त-संख्या 32 है। यथा—

मुत्तं आढयमेत्तं उच्चारस्स य हवंति छप्पच्छा।
वीस णहाणि दंता बत्तीसं होंति पगदीए।। —*(गा० 1035)*

9. मानव देह कृमियों से व्याप्त है। उसमें 5 प्रकार की वायु (प्राण, अपान, उदान, समान एवं व्यान) का संचार रहता है। यथा—

किमिणो व वणो भरिदं सरीरं किमिकुलेहिं बहुगेहिं।
सव्वं देहं अप्फंदिदूणं वादा ठिदा पंच।। —*(गा० 1036)*

10. यह शरीर मक्खी के पंख के समान पतली चमड़ी से ढँका है। यथा—

मच्छियापत्तसरसियाएथमिदं। —*(गा० 1039)*

11. केवल एक आँख में ही 96 प्रकार के रोग उत्पन्न हो सकते हैं। यथा—

रोगा एकम्मि चेव अच्छिम्मि होंति छण्णवदी —*(गा० 1054)*

12. सारे शरीर में कुल मिलाकर 5,68,99,585 रोग होते हैं। **पंचेव य कोडीओ भवंति तह अट्ठसट्ठिलक्खाइं। णव णवरिंच सहस्सा पंचसया होंति चुलसीदी।।** —गा० 1048 टीका

भ्रूण विज्ञान – (Embroyology)

भौतिक एवं आध्यात्मिक विद्या-सिद्धियों के प्रमुख साधन-केन्द्र इस मानव-तन का निर्माण किस-किस प्रकार होता है, गर्भ में वह किस प्रकार आता है तथा किस प्रकार उसके शरीर का क्रमिक-विकास होता है? —उसकी क्रमिक विकसित अवस्थाओं का ग्रन्थकार ने स्पष्ट चित्रण इसप्रकार किया है। यथा—

(1) **कललावस्था (Morula)** – माता के उदर में शुक्राणुओं **(Spermatozoa)** के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रविष्ट होने पर 10 दिनों तक मानव-तन गले हुए तांबे एवं रजत के मिश्रित रंग के समान रहता है[29]।

(2) **कलुषावस्था** – अगले 10 दिनों में वह कृष्ण वर्ण का हो जाता है[30]।

(3) **स्थिरावस्था** – तत्पश्चात् अगले 10 दिनों में वह यथावत् स्थिर रहता है[31]।

(4) **बुब्बुदभूत** – दूसरे महीने में मानव-तन की स्थिति एक बबूले के समान हो जाती है[32]।

(5) **घनभूत** – तीसरे मास में वह बबूला कुछ कड़ा हो जाता है[33]।

(6) **मांसपेशीभूत** – चौथे मास में उसमें माँसपेशियों का बनना प्रारम्भ हो जाता है[34]।

(7) **पुलकभूत** – पाँचवें मास में उक्त मांस-पेशियों में पाँच पुलक अर्थात् 5 अंकुर फूट जाते हैं, जिनमें से नीचे के दो अंकुरों से दो पैर और ऊपर के 3 अंकुरों में से बीच के अंकुर से मस्तक तथा दोनों बाजुओं में से दो हाथों के अंकुर फूटते हैं[35]।

(8) **छठवें मास** – में बालक के अंग-उपांग बनते हैं[36]।

(9) **सातवें मास** – में उस मानव–तन के अवयवों पर चर्म एवं रोम की उत्पत्ति होती है, तथा हाथ-पैर के नख उत्पन्न हो जाते हैं[37]। इसी मास में शरीर में कमल के डण्ठल के समान दीर्घनाल पैदा हो जाता है, तभी से यह जीव माता का खाया हुआ आहार उस दीर्घनाल से ग्रहण करने लगता है[38]।

(10) **आठवें मास** – में उस गर्भस्थ मानव – तन में हलन-चलन क्रिया होने लगती है[39]।

(11) **नौवें अथवा दसवें मास** – में वह सर्वांग होकर जन्म ले लेता है[40]।

गर्भ–स्थान की अवस्थिति

आमाशय एवं पक्वाशय इन दोनों के बीच में जाल के समान मांस एवं रक्त से लपेटा हुआ गर्भ 9 मास तक रहता है। खाया हुआ अन्न उदराग्नि से जिस स्थान में थोड़ा-सा पचाया जाता है, वह स्थान 'आमाशय' और जिस स्थान में यह पूर्णतया पचाया जाता है वह 'पक्वाशय' कहलाता है। गर्भस्थान इन दोनों (अर्थात् आमाशय एवं पक्वाशय) के बीच में स्थित रहता है।

ग्रन्थकार ने विविध प्रकार के रोगियों के लिए समय-समय पर चिकित्सक के माध्यम से औषधि-सेवन की जो सलाहें दी है, वे वर्तमान युग की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं तथा सर्वसुलभ, आसान एवं सस्ती भी। उसके कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किए जा रहे हैं–

रोगशामक औषधियाँ (घरेलू इलाज)

(1) कुष्ठ रोग को नष्ट करने के लिए इक्षुरस श्रेष्ठ रसायन है। यथा—
कोढ़ी संतों लद्धूण डहइ उच्छुं रसायणं। —*(गा० 1223)*

(2) सदैव स्वस्थ रहने के लिए मध्यम रसवाले कटु, तिक्त, आम्ल, कषायले, नमकीन,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मधुर, विरस, सुगन्धित, स्वच्छ तथा मध्यम उष्ण भोजन लेना चाहिए। यथा—

अकडगम तितथ मणंविलंव अकसायमलवणममधुरं।
अविरस मदुरव्विगंधं अच्छमणु वहं अणदिसीदं।। —*(गा० 1490)*

(3) स्वच्छ एवं ताजा जल कफनाशक एवं पथ्यकारक होता है, —*(गा० 1491)*

(4) गो-दुग्ध पित्त शान्त करता है।

(5) शारीरिक स्वास्थ्य तथा सौन्दर्य एवं तेजस्विता की वृद्धि के लिए अभ्यंगन-हेतु तेल, अनुकूल वृक्षों के मूलभाग, छाल, फल एवं पत्तों के चूर्ण का सेवन करना चाहिए। —*(गा० 88 एवं 93)*

(6) पुरुष के लिए 32 ग्रास तथा महिला के लिए 28 ग्रास भोजन पर्याप्त है। इतने भोजन में उनकी भूख शान्त हो जाती है, यथा—

बत्तीसं किर कवला आहारो कुक्खिपूरणो होइ।
पुरिसस्स महिलियाए अट्ठावीसं हवे कवला।। —*(गा० 211)*

(7) मक्खन, मदिरा, माँस एवं मधु —ये शरीर में महान् विकृतियाँ एवं रोग उत्पन्न करते हैं। यथा—

चत्तारि महावियडीओ होंति णवणीद-मज्ज-मंस-महु। —*(गा० 213)*

(8) तेल एवं कषायले द्रव्यों के दिन में कई बार कुल्ले करने से जीभ, नासा, गला, आँख एवं कानों को सामर्थ्य प्राप्त होता है। जीभ का मैल निकल जाने से उच्चारण शुद्धि तथा कान में तेल डालने से श्रवण-शक्ति बढ़ती है। यथा—

तेल्ल कसायादीहिं य बहुसो गंडय सयादु घेत्तव्वा।
जिब्भाकण्णणबलं होहिदि तुंडं च सेवि सदं।। —*(गा० 688)*

(9) काँजी पीने से मदिराजन्य उन्माद नष्ट हो जाता है। —*(गा० 360)*

(10) पेट की मल-शुद्धि के लिए मांड पीना चाहिए। यथा—

उदरमल सोधणिच्छाए मधुरं पिज्जेदव्वो मंडं। —*(गा० 702)*

(11) मनुष्य को अन्य पानकों की अपेक्षा आचाम्ल-सेवन से कफ का क्षय, पित्त का उपशम एवं वात का क्षरण होता है। यथा—

आयंविलेण सिंभं खीयदि पित्तं च अवसमं जादि।
वादं रक्खणट्ठं एत्थ पयत्तं खु कादव्वं।। —*(गाथा 701)*

(12) उदर-विकार में काँजी में बिल्वपत्रों को भिंगोकर उदर को सेकना चाहिए तथा सेंधा नमक में बत्ती को भिगोंकर गुदा-द्वार में प्रवेश करने से उदर का मल निकल जाता है। यथा—

आणाहवत्तियादीहिं व वि कादव्वमुदर-सोधणयं।
वेदणमुप्पादेज्ज हु करिसं अत्थंतयं उदरे।। —*(गा० 703)*

(13) उपवास के बाद मित एवं हलका आचाम्ल भोजन लेना चाहिए। —*(गा० 251)*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्याधियाँ

'भगवती आराधना' में जिन रोगों के उल्लेख मिलते हैं, उनके नाम इसप्रकार है—

(1) कच्छु (खुजली), ज्वर, खाँसी, श्वास, कुष्ठ, नेत्ररोग एवं भस्मक-व्याधि। यथा— कच्छू जर खास सोसों भतेच्छदुच्छि दुक्खाणि। —*(गा० 1542)*

(2) इनके अतिरिक्त भी अनेक रोग उस समय रहे होंगे, किन्तु जिनकी प्रमुखता थी, सम्भवत: उन्हीं के उल्लेख ग्रन्थकार ने किए हैं। इनमें से एक विशिष्ट रोग भस्मक-व्याधि का भी उल्लेख मिलता है, जिसमें रोगी को असाधारण भूख लगती है। वह असाधारण रूप से भोजन भी करता है, किन्तु वह तत्काल ही पेट में जाकर भस्म हो जाता है और उसके रोगी को वही असाधारण भूख बनी रहती है।

एक किंवदन्ती के अनुसार दूसरी सदी के आचार्य समन्तभद्र को यही भस्मक व्याधि हो गई थी। उसका शमन कैसे हुआ, उसकी कथा अनेक लेखकाचार्यों ने बड़ी ही रोचक शैली में लिखी है। वर्तमान में इस बीमारी की जानकारी नहीं मिलती।

चिकित्सक के विषय में लेखक ने कहा है कि वह अपनी चिकित्सा स्वयं नहीं कर पाता। आजकल भी यह देखा जाता है कि किसी भी पद्धति का चिकित्सक अपना इलाज स्वयं नहीं करता। वह अपने विश्वस्त मित्र चिकित्सक से अपनी चिकित्सा कराता है। ग्रन्थकार की भाषा में ही देखिए—वह कहता है—

जइ सुकुसलो वि वेज्जो अण्णस्स कहेदि आदुरो रोगं।
वेज्जस्स तस्स सोच्चा सो विय पडिकाम्भमारभइ।। —*(गा० 528)*

अर्थात् सुकुशल वैद्य स्वयं बीमार पड़ने पर दूसरे कुशल वैद्य को अपनी बीमारी का लक्षण कहता है, जिसे सुनकर वह भी उसके अनुकूल औषधि तैयार करता है।

सन्दर्भ अनुक्रमणिका—

1. श्रीनन्द्याचार्यादिशेषागमज्ञाद् ज्ञात्वा दोषान् दोषजानुग्ररोगान्।
तद्भैषज्यप्रक्रमं चापि सर्वं प्राणावायादेतदुधृत्यनीतम्।। —कल्याण-20/84 पृ० 554
2. सर्वार्धाधिकमागधीयविलसद्भाषा विशेषजोज्ज्वला
प्राणवाय महागमादवितथं संगृह्य संक्षेपत:।
उग्रादित्यगुरुर्गुरुगणैरुद्भासि सौख्यास्पदं,
शास्त्रं संस्कृतभाषया रचितवानित्येष भेदस्तयो:।। कल्याण० 25/54/702
3. अष्टांगायुर्वेद तथा 18000 श्लोकप्रमाण 'सिद्धान्तरसायनकल्प' के लेखक (यि ग्रन्थ अनुपलब्ध है)।
4. 'कल्याणकारक', 'शालाक्य-शिराभेदन-तन्त्र' तथा 'वैद्यामृत' नामक ग्रन्थों के लेखक (यि ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं, किन्तु छिटपुट रूप में उनके 65 सिद्ध-प्रयोग आरा स्थित जैन सिद्धान्त भवन के प्राच्य शास्त्र भण्डार में सुरक्षित हैं)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

5. नागार्जुनकल्प, नागार्जुनकक्षपुट आदि सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक महान् ग्रन्थों के लेखक (ये ग्रन्थ अनुपलब्ध है)।
6-8. ग्रन्थ अज्ञात एवं अनुपलब्ध।
9. शल्यतन्त्र-ऑपरेशन सम्बन्धी ग्रन्थ के लेखक (ये ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं)।
10. विष एवं उग्रग्रह आदि के शमन-सम्बन्धी ग्रन्थ के लेखक (ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं)।
11-12. बालरोग-चिकित्सा सम्बन्धी ग्रन्थ के लेखक (ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं)।
13. शरीर-बलवर्धक तथा बाजीकरण (Improvement of Health) आदि सम्बन्धी ग्रन्थ के लेखक (ग्रन्थ अनुपलब्ध है)।
14. 'कल्याणकारक' के लेखक – (पं० वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री (शोलापुर) द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित, सन् 1940 ई०)।
15. 22 सहस्र शब्दप्रमाण 'निघण्टुकोष' (अपूर्ण-सकार तक उपलब्ध) के लेखक।
16. 'मेरुतन्त्र' नामक वैद्यक ग्रन्थ के लेखक।
17. 'गोवैद्य' (कन्नड़) ग्रन्थ के लेखक।
18. 'खगेन्द्रमणिदर्पण' (कन्नड़) के लेखक।
19. 'हयशास्त्र' (कन्नड़) के लेखक।
20. 'बालग्रह चिकित्सा' (कन्नड़) के लेखक।
21. 'वैद्यामृत' (कन्नड़ 14 अधिकारों में विभक्त) ग्रन्थ के लेखक।
22. 'रसरत्नाकर' (कन्नड़) एवं 'वैद्य सांगत्य' (कन्नड़) ग्रन्थ के लेख।
23. पूज्यपाद कृत 'कल्याणकरक' (संस्कृत) का कन्नड़ भाषा में अनुवाद करने वाले आचार्य।
24. दे० 'कल्याणकारक', भूमिका पृ० 5।
25. दे० 'कल्याणकारक' भूमिका पृ० 14।
26. वही भूमिका पृ० 43।
27. 'वैद्यसार-आयुर्वेदरत्न' पं० सत्यन्धर जैन (आरा 1931 ई०) भूमिका।
28. दे० 'कल्याणकारक' भूमिका, पृ० 23, 32।
29. गा०सं० 1007।
30-31. दे० गाथा 1007।
32. दे० गाथा 1008।
33. दे० गाथा 1008।
34. वही।
35. गाथा सं० 1009।
36. दे० गाथा 1009।
37. दे० गाथा 1010, 1019।
38-39. दे० गाथा 1010।
40. दे० गाथा 1012।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लालबहादुर शास्त्री विद्यापीठ में प्राकृतभाषा-पाठ्यक्रम के शुभारम्भ के अवसर पर पठित कविता

शौरसेनी की निर्मलधारा...

–प्रभाकिरण जैन

णमोकार का मंगलकारी,
जिसने हमको जाप वरा।
जन-जन के तन-मन का,
जिसने है संताप हरा।।

वो निर्मला चंचला चपला,
बाला 'प्राकृत' कहलाई।
प्रकृति का सौन्दर्य लिये जो,
वाणी बनकर हर्षाई।।

जन्म 'ठाण' मथुरा था जिसका,
गूंजी जहां वंशी की तान।
शौरसेनी प्राकृत ही बोले
राम राम जय-जय सिया-राम।

कान्हा की वंशी पर थिरकी,
पार्वती की परम सखी।
सिया के श्रीमुख की शोभा,
जनभाषा बन लुकी-छिपी।।

नई-नई भाषाओं को थे,
जिसने अपने बोल दिये।
पैशाची, मागधी, महाराष्ट्री,
नाम बड़े अनमोल दिये।।

'विज्जाणंद' मुनि की साधना,
शौरसेनी ने की साकार।
शास्त्री विद्यापीठ में प्राकृत-
'सिक्खा' का खुल गया है द्वार।।

हृदय उल्लसित नेत्र छलकते,
कैसा है यह दिन पावन।
'स्वर्ण पुराना ही सच्चा है'
और तराशा मनभावन।।

शौरसेनी की निर्मल धारा,
करे सदा अमृत-वर्षण।
'विज्जापीठ' विश्व में चमके,
आंखों में है यही सपन।।

❖❖

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'भगवती आराधना' के निरुक्त शब्द

—डॉ० उदयचन्द्र जैन

'भगवती आराधना' या 'आराहणा भगवदी' प्राकृतभाषा में रचित एक ऐसी रचना है; जिसमें आचार-विचार, सिद्धान्त, तत्त्वचिन्तन आदि का समावेश है। आचार्य शिवार्य ने विशाल जन-मानस की भावना को ध्यान में रखकर मानसिक सन्तुलन बनाए रखने के लिए ही संभवत: इसकी रचना की होगी। इसमें मानसिक पर्यावरण का पूर्ण संरक्षण है। जीव की जीवंतता ही इसका प्रतिपाद्य विषय नहीं है, अपितु प्राणीमात्र की सुरक्षा भी इसमें है। यह आराधना आत्म प्रतीति का साधन है। इसके रचयिता की जो भी दृष्टि रही है, वह तो सर्वोपरि है ही; परन्तु सबसे बड़ी बात यह है कि शिवार्य ने जो कुछ भी विषय प्रतिपादित किया, वह **शौरसेनी प्राकृतभाषा की सूक्ष्मता का परिचय देने के लिए भी किया गया होगा —यह तथ्य इसके अध्ययन से ज्ञात होता है।**

वे प्राकृतविज्ञ थे, 'मूलाचार' जैसे आचारशास्त्र उनके सामने अवश्य थे। वे जो कुछ भी कहना चाहते थे; उसे रूपात्मक, वर्णनात्मक, कथात्मक, भावात्मक, पारिभाषिक, व्युपत्तिमूलक, निरुक्त, अर्थ-सौन्दर्य आदि की दृष्टि से बहुत कुछ विचारकों के सामने रख देते हैं। मैंने इसके मूल में जो निरुक्त-रूप देखा, भाषा की दृष्टि से बारंबार विचार किया तथा टीकाकार आचार्य श्री अपराजित सूरि की टीका 'विजयोदया' पर ध्यान दिया; तो इसका विषय जितना चिन्तनीय है, उससे कंहीं अधिक इसमें भाषात्मक प्रयोग विशेषताओं के लिए एक से अधिक शोध-प्रबन्धों की आवश्यकता है। मैं यहाँ इसमें प्रयुक्त कुछेक निरुक्तियाँ प्रस्तुत करूँगा, जो अपने आप में महत्त्वपूर्ण हैं।

निर्युक्ति

"जुत्ति त्ति उवाय त्ति य णिरवयवा होदि णिज्जुत्ती" *(मूला० 515)*

अर्थात् युक्ति उपाय है, जो अखंडित/निरवयव, युक्ति/कथन/विचार है; वह 'निर्युक्ति' है। 'निर्युक्ति' का अर्थ है 'सम्पूर्ण उपाय'; यह सम्पूर्ण उपाय निरवयव होता है। 'निर्युक्ति में 'नि' निरवयव/सम्पूर्ण/युक्ति का अर्थ प्रकट करता है, जो अभीष्ट अर्थ का द्योतक है, जो तत्त्व के उपाय को प्रकट करता है। 'नि' का अर्थ निश्चय/एवार्थ/अधिकता भी है। 'आवश्यक निर्युक्ति' (88) में कहा है **"णिज्जुत्ता ते अत्था जं बद्धा तेण होइ णिज्जुत्ती; तह वि य इच्छावेइ विभासिउं सुत्तपरिवाडी"** अर्थात् निर्युक्त का अर्थ है सम्बद्ध/बँधा हुआ; उससे जो सूत्र की परिपाटी की व्याख्या की जाती है, वह 'निर्युक्ति' कहलाती है।

'आचारांग' वृत्तिकार (पृ०3) के शब्दों में निर्युक्ति—**"अर्थ-धर्म-प्रयत्न-भाजस्तस्यैवंविधस्य, निश्चयेनार्थ-प्रतिपादिका युक्तिर्नियुक्तिस्तां कीर्तयिष्ये अभिधास्ये इति अन्तस्तत्त्वेन निष्पन्नां निर्युक्तिं बहिस्तत्त्वेन प्रकाशयिष्यामीत्यर्थ:"**। अर्थात् अर्थ, धर्म, प्रयत्न आदि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की पात्रता की विधि का निश्चय अर्थ से प्रतिपादन किया जाता है, ऐसी युक्ति/उपाय निर्युक्ति है, उसके कथन से अन्तस्तत्त्व के साथ बाह्य तत्त्व के द्वारा निष्पन्न व्याख्या का प्रकाशन किया जाएगा।

अर्थ का मूलसूत्र के साथ सम्बन्ध होता है। मूलसूत्र का जो अर्थ होता है वही निर्युक्ति के द्वारा स्पष्ट किया जाता है; इसलिए निर्युक्ति निश्चय अर्थ का प्रतिपादक होती है। **"सूत्रार्थयो: परस्परं निर्योजनं सम्बन्धनं निर्युक्ति:"** (आव०गा०83) अर्थात् सूत्रार्थ के परस्पर निर्योजन एवं सम्बन्ध की विशेषता बतलाने वाली युक्ति 'निर्युक्ति' है।

शीलंकाचार्य ने 'आचारांगवृत्ति' (पृ०7) में 'निर्युक्ति' के तीन भेद किए हैं—

(i) निक्षेपनिर्युक्त्यनुगम, (ii) उपोद्घातनिर्युक्त्यनुगम, (iii) सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगम

i. निक्षेपनिर्युक्ति—में सामान्य और विशेष रूप में प्रसिद्ध घोष-निष्पन्न और नाम-निष्पन्न का ग्रहण किया जाता है। यह निक्षेपों का विवेचन सूत्र की अपेक्षा से कहे गए लक्षणरूप होता है।

ii. उपोद्घातनिर्युक्ति—

उद्देसे णिद्देसे य णिग्गमे खेत्तकालपुरिसे य।
कारण-पच्चय-लक्खण णए समोयारणाऽणुमए।। *(आचा० 92)*

अर्थात् 'उपोद्घातनिर्युक्ति' में उद्देश्य, निर्देश, निर्गम, क्षेत्र, काल, पुरुष, कारण, प्रत्यय, लक्षण और नय आदि पर विचार किया जाता है। उसमें यह विचार किया जाता है कि वह क्या है, कितने प्रकार का है, किस रूप, कैसा एवं किस काल तक होता है।

iii. सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्ति—सूत्र के अवयव, अर्थ और सूत्र-उच्चारण पर इसमें विशेष ध्यान दिया गया है।

निर्युक्तियाँ भाषा, शैली और विषय की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मानी गई हैं। जो कि प्राचीन आगमों पर निर्युक्तियाँ प्रस्तुत की गई हैं, वे प्राकृत में हैं और इनका प्रमुख छन्द 'गाथा' है। परन्तु भाष्य एवं टीकाकारों ने जो व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं, उनमें प्राकृत की अपेक्षा संस्कृत को अधिक महत्त्व दिया गया है।

वैयाकरणों ने इसके (i) वर्णागम, (ii) वर्णविपर्यय (iii) वर्णविकार (iv) वर्णनाश और (v) धात्वर्थातिशय —ये पाँच भेद किए हैं।

निरुक्त के आधार पर विषय-विभाजन के रूप में चार भेद किये जाते हैं—

(i) व्युत्पत्तिजन्य (ii) पारिभाषिक (iii) विशेषणात्मक (iv) वृत्यात्मक

'भगवती आराधना' में उक्त सभी तरह के नियुक्तिपूर्ण शब्दों का प्रयोग हुआ है। यहाँ अकारादि-क्रम से उनका उल्लेख किया जा रहा है—

(1) अज्जव — (आर्जव) **'ऋजुमार्गवृत्ति: आर्जवम्'** जिससे सरल मार्ग की प्रतीति हो। यह वृत्यात्मक निर्युक्ति है। (गा० 132)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(2) अणुत्तरं — "न विद्यते उत्तरं उत्कृष्टमस्मादिति अनुत्तरं" (गा० 42)। जिसका उत्तर नहीं है या इससे कोई उत्कृष्ट नहीं है। यह विशेषणात्मक निर्युक्ति है।

(3) आणवणी — "अनुशासनवाणी आणवणी" (गा० 1189)। अनुशासन-वाणी 'आणवणी' है। (पारिभाषिक व्युत्पत्ति)

(4) आमंतणि — "यया वाचा परोऽभिमुखी क्रियते सा आमन्त्रणी।" (गा०1189) जिस वाणी से पराङ्मुख/आमन्त्रण किया जाता है, वह 'आमन्त्रणी' है।

असत्तः— असत्तवयणं (गा० 817) असत् वचन 'असत्य' है।

गरहिदवयणं (गर्हितवचन 'असत्य' है।) (गा० 823)

सावज्जसंजुदं वयणं – सावद्य-युक्त ववन 'असत्य' है। (गा० 823)

अप्पियवयणं असत्तवयणं – अप्रियवचन, असत्यवचन 'असत्य' है।

पावस्सासवदारं असच्चवयणं – पापों के आस्रव द्वार का नाम असत्यवचन है। (गा० 817)

असद् अशोभनं वचनं – असत्/अशोभनवचन असत्य है। (गा० 817)

अहिंसाः—सव्वेसिं वदगुणाणं पिंडा सारो अहिंसा। (गा० 789) सभी व्रतों के गुणों का पिण्ड/समूह या सार अहिंसा है। हिंसादो अविरमणं (गा० 800) हिंसा से रहित होना 'अहिंसा' है।

उवाय/उवावः—पावस्स णिरोहे (गा० 1183) पाप का निरोध 'उपाय' है। उवावो कम्मासवदारणिरोहणो हवे सव्वो। (गा० 1444) सभी तरह के कर्म-आस्रव द्वार का निरोध 'उपाय' है।

उवयोगः—परिणाम एव उपयोग – (गा० 30) परिणाम ही उपयोग है।

कल्पः—कल्प्यते अभिधीयते येन अपराधानुरूपो दण्डो स कल्प (गा० 132) जिससे अपराधरूप दण्ड कल्पित होता है या ज्ञान किया जाता है, वह 'कल्प' है।

काउस्सग्गः—'कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो' (गा० 1182) 'काय क्रिया' की निवृत्ति 'कायोत्सर्ग' है।

कायगुत्तिः—कायस्य सम्बन्धिनी क्रिया 'कायक्रिया', तस्य निवृत्तिः कायगुप्तिरिति (गा० 1182) काय/शरीर की सम्बन्धिनी क्रिया 'काय-क्रिया' है, उसकी निवृत्ति 'कायगुप्ति' है।

ग्रन्थः—ग्रथ्नंति रचयन्ति दीर्घीकुर्वन्ति संसारमिति ग्रन्थाः। (गा० 42) जो संसार को ग्रन्थी करते हैं, रचते हैं और उसका विस्तार करते हैं, वे ग्रन्थ हैं।

"मिथ्यादर्शनं मिथ्याज्ञानं असंयमः कषायाः अशुभयोगत्रयं चेत्यमी परिणामाः ग्रंथाः" (गा० 42) मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, असंयम, कषाय और अशुभ योगत्रय —ये परिणाम ग्रन्थ हैं।

गजः—गर्जतीति गज : (पृ० 600) जो गर्जना करता है, वह गज है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गौ:—गच्छति इति गौ: (पृ० 600) जो गमन करता है; वह 'गौ' है।

गणधर:—चाएदि जो ठवेदुं गणमप्पाणं गणधरो सो (गा० 289) जो अपने गण की स्थापना के प्रयत्नशील होता है, वह 'गणधर' है।.

गुप्ति:—सम्यग्योगनिग्रहो गुप्ति: (गा० 1181, 114) अच्छी तरह से योग (मन, वचन और काय) का निग्रह 'गुप्ति' है। यतो गोपनं सा गुप्ति:। (गा०114) जिससे गोपन/निग्रह हो वह 'गुप्ति' है।

जधाछंद:—सो होदि साधु सत्थादु णिग्गदो जो भवे जधाछंदो। (गा० 1304) आगम के विरुद्ध मार्ग की अपनी इच्छानुसार कल्पना करना 'यथाच्छन्द' है।

थेर:—गणधरवसहो य जदणाए (गा० 628) गणधर की प्रधानता के मार्ग का ज्ञाता 'स्थविर' है। स्थविरश्चिरप्रव्रजितो मार्गज्ञो। जो चिरप्रव्रजित और मार्ग का ज्ञाता होता है 'थेर/स्थविर' है।

तव:—चरणम्मि तम्मि जो उज्जमो अउंजणा य होइ सो चेव तवो। (10) जो चरित्र में उद्यमशील करे वही 'तप' होता है। "चरणोद्योगोयोगावेव तपो भवतीति" (पृ० 29) आचरण के प्रयत्न से तप होता है।

धम्म:—सम्मत्त-चरणसुदमइओ धम्मो। (गा० 1747) 'धर्म' सम्यक्त्व, चरण और श्रुत युक्त होता है। धारयति वस्तुनो वस्तुतामिति धर्म:। (गा० 1694) जो वस्तु की वस्तुता को धारण करता है, वह 'धर्म' है।

परिहार:—कायव्वमिणमकायव्वयत्ति णाऊण होइ परिहारो। (गा० 9) कादव्वमिणाति णादूण परिहारो — करने योग्य को जानकर चाहना 'परिहार/त्याग' है। अकादव्वमिणत्ति णादूण हवदि परिहारो नहीं करने योग्य को जानकार छोड़ना 'परिहार' है।

फल:—साध्यं परिप्राप्यं आराधनाया:। (गा० 69) आराधना के द्वारा प्राप्त साध्य को 'फल' कहते हैं।

भोग:—भोज्यंते सेव्यन्ते इति भोगा:। (गा० 1276) जो भोगे एवं सेवन किए जाते हैं, वे 'भोग' हैं। भुज्यन्तेऽनुभूयन्त इति भोगा:।

मणोगुत्ति:—जा रागादिणियत्ती मणस्स जाणाति तं मणोगुत्ती। (गा० 1181) जिससे रागादि की निवृत्ति होती है तथा जो मन को जानता है, वह 'मनोगुप्ति' है। रागादिभिरसहचारिता या सा मनोगुप्ति:। (1181) रागादि कार्य करने से रोकना 'मनोगुप्ति' है।

वीर्यपरिणामस्य निग्रहो रागादिकार्यकारणनिरोधो मनोगुप्ति:, मन: शब्देन मनुते य आत्मा स एव भण्यते, तस्य रागादिभ्ये यो या निवृत्ति: रागद्वेष-रूपेण या अपरिणति:, सा मनोगुप्तिरित्युच्यते।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

माणी:—"जो अवमाणणकरणं दोसं परिहरइ णिच्चमाउत्ते। सो णाम होदि माणी"। (गा० 1424) जो किसी का अपमान नहीं करता है, तथा नित्य दोषों का परित्याग करता है, वह 'माणी' है।

महव्वद:— साधेंति जं महत्थं आयरिदाइं च जं महल्लेहिं।
जं च महल्लाइं सयं महव्वदाइं हवे ताइं।। (गा० 1178)

(i) जो महान् प्रयोजन को साधते हैं (ii) महान् पुरुषों के द्वारा इनका आचरण किया जाता है और (iii) जो स्वयं महान् है, उसका 'महाव्रत' होता है।

"स्वयं महान्ति ततो महाव्रतानि"

रदी:—पीदीए विणा ण रदी। (गा० 1261) प्रीति बिना रति नहीं।

रोस:—रोसो सत्तुगुणकरो। (गा० 1359) परिभवकरो सवासे रोसो। (गा०1359) शत्रुता के गुण का कारण रोष है, परिभवकारक रोष है।

वचिगुत्ती—अलियादिणियत्ती वा मोणं वा होइ वचिगुत्ती (गा० 1181) अलीक/असत्य वचन आदि की निवृत्ति या मौन वचिगुप्ति है। "विपरीतार्थ-प्रतिपत्तिहेतुत्वात्परदु:-खोत्पत्तिनिमित्तत्वाच्चाधर्माद्या व्यावृत्ति सा वाग्गुप्ति।" विपरीत अर्थकी प्रतिपत्ति में कारण होने और दूसरों को दु:ख की उत्पत्ति में निमित्त होने से जो अधर्ममूलक से निवृत्ति होती है, वह वाग्गुप्ति/वचिगुप्ति है।

"वाग्विशेषस्यानुपादकता वाच: परिहारो वाग्गुप्ति:" वचन विशेष की उत्पादकता से रहित वचन का त्याग वाग्गुप्ति है। "मौनं वा सकलाया वचो या परिहरति सा वाग्गुप्ति:" मौन या पूर्ण वचन का त्याग वाग्गुप्ति है।

विक्खेवणी:—"स-समय-पर-समयगदा कथा दु विक्खेवणी।" (गा० 655) स्वसमय और परसमय को प्राप्त कथा विक्षेपणी है।

विणय—"विलयं नमति कर्ममलमिति विनय !" (गा०302) जो कर्ममल की समाप्ति की ओर ले जाए वह विनय है।

संघ:—'गुणसंघाओ संघो' (गा० 713) गुणों के समूह से संघ बनता है। दंसण-णाण-चरित्ते संघायंतो हवे संघो। (गा० 713) दर्शन, ज्ञान और चारित्र में संलग्नता संघ है।

सामण्ण:—'समणस्स भावो सामण्णं' (गा० 21) श्रमण के भाव को 'सामण्ण' कहते हैं। 'सामण्णं समता' 'सामण्ण' का अर्थ समता है।

"सममणो समणो समणस्स भावो सामण्णं।" (गा० 70)

उक्त निरुक्त शब्द व्युत्पत्ति, पारिभाषिक आदि के रूप में प्राकृत एवं संस्कृत दोनों के ही दिए गये हैं। 'भगवती आराधना' में कई निरुक्त हैं, उनमें से विस्तारभय के कारण कुछ ही दिए गए हैं। इनका पूर्व ग्रन्थों 'षट्खंडागम' प्रवचनसार, समयसार, मूलाचार,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तिलोयपण्णत्ति आदि के शब्दों को तुलनात्मक रूप में प्रस्तुत कर उसके विकासक्रम को भी दर्शाया जा सकता है। उक्त शब्दों को 'भगवती आराधना' के पश्चात् लिखे गए ग्रन्थों के उद्धरण द्वारा उसकी विशेषता को निरूपित किया जा सकता है। मैं इसके विस्तार निरूपण में प्रयत्नशील हूँ।

निरुक्त शब्दों की ऐतिहासिकता आदि से विषय का गाम्भीर्य निश्चित ही सरल एवं मूलानुगामी हो सकेगा। इससे सिद्धानत की विशेषताएं एवं उसका रहस्य भी स्पष्ट हो सकेगा। निरुक्त शब्द भावों से परिपूर्ण एवं भाषा की गरिमा का गुणगान प्रकट करने में सभी तरह से यथेष्ट एवं ज्येष्ठ भी हैं।

❖❖

विरोध करने के लिए प्रमाण की जरूरत नहीं

"आग्रही बत निनीषति युक्तिं यत्र-तत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिः यत्र-तत्र मतिरेति निवेशम्।।"

अर्थः—दुराग्रही मनुष्यों ने जो पक्ष निश्चित कर रखा है, वह युक्ति को उसी ओर ले जाना चाहता है। किंतु जो आग्रह से रहित होकर निष्पक्ष-दृष्टि से विचार करना चाहता है, वह युक्ति का अनुसरण करके उस पर विचार करता है व वस्तु स्वरूप का निश्चय करता है।

* * *

श्रेयांसि बहुविघ्नानि—अर्थात् अच्छे कार्य में बहुत से विघ्न आते ही हैं। हम विरोध को विनोद समझते हैं; विरोध करने के लिए बहुत प्रमाण की जरूरत नहीं पड़ती।

* * *

'मृगमीनसज्जनानां, तृणजलसंतोषविहितवृत्तीनाम्।
लुब्धक-धीवर-पिशुना, निष्कारण वैरिणो जगति।।' —*नीतिशतक, 61*

अर्थः—लोक में तिनका खाकर संतुष्ट रहने वाले हिरण को शिकारी, जल में ही मग्न रहनेवाली मछली को धीवर, तथा संतोषी वृत्तिवाले सज्जनों को पिशुन (दुष्टजन) सदैव अकारण ही वैरी बनकर घातित करते रहते हैं।

* * *

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(शौरसेनी काव्यगोष्ठी में आगत कविता)

समंतभद्दो हि जिणस्स सासणो

–डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री

णयप्पमाणेहिं समक्खिदो जो, वत्थुसरूवो हि पयासगो खलु।
दया–दम–चाग–समाहि–जुत्तो, समंतभद्दो हि जिणस्स सासणो।। 1।।

अर्थः–जिन्होंने नयों से तथा प्रमाणों से वस्तु-स्वरूप का निश्चित प्रकाशन किया है और जो दया, संयम, त्याग एवं समाधि से सहित हैं, वे समन्तभद्र जिनदेव के शासन (स्वरूप) हैं।

भडो हि उब्भड सिव–साहणस्स, किदो हि वादो सफलो समत्थो।
पुव्वं जिणा पाडलिपुत्तणयरे, कंचीपुरे मालव–सिंधुदेसे ।। 2।।

अर्थः–शिव (आत्मकल्याण, मुक्ति) की साधना करने में जो अद्वितीय वीर (योद्धा) और कांचीपुर में, मालवदेश में एवं सिंधुदेश में वाद-प्रतिवाद में कुशल व सफल हैं। तथा (लगभग दो हजार वर्ष) पूर्व जिन्होंने पटना नगर में वाद-विवाद में सफलता प्राप्त की थी, वे समन्तभद्र जिनदेव के शासन (स्वरूप) हैं।

असेस देसा वि विवाय–तप्परा, णहि होही सक्का पडिसाहणत्थे।
आचक्खमाणो हि सिया य वादो, सिआ–वआ वेर–विरोहमहणो।। 3।।

अर्थः–सम्पूर्ण प्रदेशों में जो वादार्थी विद्वान् वाद-विवाद की कला में निपुण तथा सदा तैयार रहने वाले थे, वे आपकी स्याद्वादमयी उक्तियों का उत्तर देने में समर्थ नहीं हुए; जो कि सभी प्रकार के वैर-विरोध का मथन करने वाली हैं।

उब्भूद संधुक्क धया–पयागा, जिणस्स धम्मस्स पचालिदो जो।
सम्मं हि वयणो सावेक्खपक्खो, भद्दो समंतो हि समंतभद्दो।। 4।।

अर्थः–इसप्रकार सापेक्ष-पक्ष सम्यक् वचनों के प्रयोग से जिन्होंने जैनधर्म की ध्वजा को प्रबल वेग से फहराया था, वे समन्तभद्र वास्तव में सब तरह से भद्र हैं।

एगंतधम्मो हि णिवेसमूलो, रागादि–जणिदो भवदुक्ख–हेदू।
मिच्छं अभावे ससहावदिट्ठे, वत्थुसहावो वुत्तं हि णियदो।। 5।।

अर्थः–एकान्तरूप से निश्चय किए हुए धर्म में मिथ्या-श्रद्धान मोह के कारण होता है। रागादि भाव से जनित यह मिथ्या श्रद्धान संसार के दुःख का कारण है। परन्तु जब आत्मस्वभाव की दृष्टि हो जाने पर मिथ्यात्व का अभाव हो जाता है, तो व्यक्ति को वस्तु-स्वभाव की उपलब्धि हो जाती है।

सव्वंतजुत्तं गुण–मुक्खकप्पं, सव्वंतसुण्णो हि मिहोणवेक्खो।
सव्वापदाम्अंतगरो णिरंतो, सव्वोदयं तित्थमिमं तुमेव।। 6।।

अर्थः–(आचार्य समन्तभद्र 'युक्त्यनुशासन', का० 61 में कहते हैं कि हे भगवन् !)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सभी धर्मों से रहित पदार्थ को मानने वालों तथा एकान्तवादियों का मिथ्यादर्शन ही समस्त दुःखरूप आपदाओं का कारण है, किन्तु आपका शासनतीर्थ सभी आपदाओं का अन्त करनेवाला एवं सम्पूर्ण जीवों का अभ्युदय करनेवाला 'सर्वोदय तीर्थ' है।

कामं विरोहि उप्पत्तिचक्खु, समिक्खिदं तुह समदिट्ठि-इट्ठं।
तुम्हं धुवं खंडिद माणसिंगो, होदि अभद्दो वि समंतभद्दो।। 7।।

अर्थः—आपके इष्ट शासन पर द्वेषबुद्धि रखनेवाला भी शासन का समीक्षण व परीक्षण करता है, तो उसका भी मानश्रृंग (अभिमानरूपी शिखर) खण्डित हो जाता है: और वह अभद्र होता हुआ भी सब ओर से भद्र हो जाता है।

भावेसु णिच्चेसु वियारहाणि, ण कारगो वावड-कज्ज-जुत्ति।
ण बंध-भोगो ण हि खु विमोक्खो, समग्गदोसो हि मदो परस्स।। 8।।

अर्थः—पदार्थ को सर्वथा नित्य माना जाए, तो फिर उसमें किसी प्रकार का परिणमन न होने से विकार (परिवर्तन) की हानि (अभाव) हो जाएगी; जिससे कर्त्ता आदि कारकों का व्यापार नहीं बनेगा और व्यापार के अभाव में कोई कार्य नहीं बन सकता। इसीप्रकार कार्य के अभाव में युक्ति घटित नहीं होती और युक्ति के अभाव में जन्म और भोग नहीं बन सकते तथा बन्ध के अभाव में मुक्ति नहीं हो सकती। इसप्रकार आप के मत से भिन्न जितने भी पर-मत हैं, वे सब प्रकार से दोष-रूप हैं।

तच्चं विसुद्धं हि वियप्पसुण्णं, सहावरूवं हि सगं पयासगो।
ण सच्च सच्चेव णासच्च सच्चो, वचो जिणस्स हि वक्खाणिदो जो।। 9।।

अर्थः—जो तत्त्व-विकल्पों से शून्य हैं, वही विशुद्ध है। एवं विकल्पातीत तथा सहज स्वसंवेद्य है। वह तत्त्व सहज स्वाभाविक स्वरूप होने से स्व-प्रकाशक है। यथार्थ में तत्त्व न तो सर्वथा सन्मात्र है और न असन्मात्र; स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप से वह सत् है तथा परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप से असत् रूप है। आचार्य समन्तभद्र ने जिनेन्द्र भगवान् की नित्यानित्यात्मक वाणी का ही व्याख्यान किया है।

ण भेय-मेत्तं णाभेय-मित्तं, भणिदो हि तच्चं हि अभेय-भेयं।
जिणस्स सारो सुपयासिदो जो, सो भद्द भद्देसु समंतभद्दो।। 10।।

अर्थः—(आपके शासन में) प्रतिपादित जीवादि वस्तुततत्त्व न तो सर्वथा भेदरूप है और न अभेदरूप इसलिये तत्त्व अभेदभेदात्मक है। यही जिन-प्रवचन का सार है, जो आचार्य समन्तभद्र के द्वारा भली-भाँति प्रकाशित किया गया है। वे समन्तभद्र सभी भद्रों— (उपकारियों) में भद्र हैं।

समंतभद्दो भद्दत्थो भासदु भारतभूसणो।
कित्तिमुत्ति समावण्णो विजिदो जेण वादिणा।। 11।।

अर्थः—इस भारत-भूमि को पवित्र करनेवाले भारतभूषण समन्तभद्र सदा प्रकाशमान रहें, जिन्होंने समस्त वादियों को जीतकर मानों कीर्तिरूपी मूर्तिमत्ता को ही प्राप्त कर लिया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कामदं मोक्षदं देवम्

–गोपीलाल 'अमर'

> डॉ० गोपीलाल 'अमर' एक परिश्रमी लेखक हैं, जो अध्ययन एवं चिंतनपूर्वक दर्शन, कला, पुरातत्त्व आदि विषयों पर लेखनकार्य करते रहते हैं। आप सुप्रतिष्ठित संस्था 'भारतीय ज्ञानपीठ' में कार्यरत हैं। आपकी मेधावी लेखनी से प्रसूत यह संक्षिप्त किन्तु महत्त्वपूर्ण लेख मननीय है।
>
> –सम्पादक

जैन शास्त्रों के प्रवचन से पूर्व आमतौर पर किया जाने वाला संकलित मंगलाचरण इस श्लोक से शुरू होता है :–

'ओंकारं बिन्दु-संयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिन:,
कामदं मोक्षदं चैव ओंकाराय नमो नम: ।'

इस श्लोक का हिन्दी शब्दार्थ यह होगा : कामना-दायक और मोक्षदायक बिन्दु-सहित ओंकार का योगी पुरुष सदा ध्यान करते हैं; ओंकार के लिए नमस्कार, नमस्कार।

ओंकार की स्तुति और नमस्कार में लिखित इस श्लोक का संदर्भ, प्रसंग आदि अब भी शोध का विषय है, उसके मूलपाठ पर तो और भी गंभीर चर्चा आवश्यक है।

मूलपाठ में सबसे गंभीर चर्चा होनी चाहिए 'चैव' शब्द पर जो इस श्लोक के तीसरे चरण के अंत में आया है। इस के स्थान पर 'देवम्' शब्द का पाठ अधिक युक्ति-संगत है। कुछ तर्क प्रस्तुत हैं—

1. 'च' और 'एव' शब्दों की वृद्धि-एकादेश नामक संधि होने पर 'चैव' पद बनेगा। इसमें पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' का 'वृद्धिरेचि' सूत्र (6.1.88) लगेगा। आमतौर पर 'च' का अर्थ होता है 'और'; 'एव' का अर्थ होता है 'ही'। इस श्लोक में 'ही' शब्द अनावश्यक है; काव्य-रचना में अनावश्यक शब्द का रहना दोष माना गया है। 'च' शब्द आवश्यक है, परंतु संस्कृत काव्य-रचना में 'च' शब्द का प्रयोग किये बिना भी उसका अर्थ स्वत: स्वीकृत माना जा सकता है। इस दृष्टि से इस श्लोक में 'चैव' अनावश्यक है।

2. 'चैव' के तुरंत बाद 'ओंकाराय' शब्द आया है। इनकी संधि होने पर पद बनेगा, 'चैवोंकाराय', जैसा कि पाणिनि की 'अष्टाध्यायी के सूत्र 'ओमाङोश्च' (6.1.95) के अनुसार 'शिवाय+ओम्' का 'शिवायोम्' बनता है। संस्कृत-लेखन का निर्विकल्प नियम है कि जहाँ संधि हो सकती हो, वहाँ वह अवश्य की जाए; अन्यथा लेखन सदोष माना जाएगा। संधि कर देने से 'चैवोंकाराय' पद बनेगा। उसमें 'ओम्' अक्षर का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रहेगा, जिसके फलस्वरूप इस श्लोक के चौथे चरण में एक अक्षर कम हो जाएगा। एक अक्षर की कमी से इस श्लोक में 'छंदोभंग' नामक दोष जा जाएगा। यह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दोष संस्कृत में इतना निकृष्ट माना गया है कि 'माष' शब्दा को 'मष' लिखना पड़ जाए तो लिख लेना चाहिए, परंतु छंदोभंग नहीं करना चाहिए। **(अपि माषं मषं कुर्याच्छंदोभंग न कारयेत्)**। मतलब कहने का यह कि इस श्लोक में 'चैव' पद से या तो व्यकारण-विरोध ा होता है या छंदोभंग होकर रहेगा। इसलिए वहाँ उस पद का होना अभीष्ट नहीं।

3. अनावश्यंक और अनभीष्ट 'चैव' के स्थान पर दिवम्' शब्द के प्रयोग से व्याकरण-विरोध और छंदोभंग — दोनों से बचा जा सकेगा। वैसे भी 'दिवम्' शब्द का प्रयोग वहाँ अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है।

4. जिसका ध्यान योगी करते हैं और जिसे नमस्कार पर नमस्कार किया गया है, ऐसा 'ओंकार' कौन है? ओंकार एक विशेषण है, तो इसका विशेष्य क्या है? दोनों प्रश्नों का एक ही उत्तर है, 'देव'। 'देव' का अर्थ आदि-तीर्थंकर ऋषभदेव किया जा सकता है, जो (म) का स्वामी होने से (अ+ऊ+म्) 'ओम्' हैं, अर्थात् 'ओंकार' हैं। कोई अन्य तीर्थंकर भी 'ओंकार' हो सकता है, किंतु अपने 'आदिदेव', 'पुरुदेव' आदि विशेषणों के रूप में ऋषभदेव को ही 'देव' शब्द से संबोधित किए गए हैं।

इन सब कारणों से उपर्युक्त श्लोक इसप्रकार लिखा जाए : **"ओकारं बिन्दु-संयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिन:, कामदं मोक्षदं देवमोंकाराय नमो नम: ।"**

(कातन्त्र व्याकरण संस्कृत टीका, पृ० 9)

'वाद' मुक्ति का मार्ग नहीं

"क्व च तत्त्वाभिनिवेश: क्व च संरम्भातुरेक्षणं वदनम् ।
क्व च सा दीक्षा विश्वसनीयरूपतानृजुर्वाद: ।।"

अर्थ:—कहाँ तो तत्त्वान्वेषण के प्रति मन का लगाव और कहाँ वाद के समायोजन में आतुर (त्रस्त) नयनोंवाला मुख? इसी प्रकार कहाँ मुक्ति के प्रति विश्वसनीयता वाली श्रमण दीक्षा और कहाँ यह कुटिलवाद?

"अन्यत एव श्रेयांस्यन्यत एव विचरन्ति वादिवृषा: ।
वाक्संरम्भ: क्वचिदपि न जगाद मुनि: शिवोपायम् ।।"

—(आचार्य सिद्धसेन, एक विंशतिद्वात्रिंशिका, 8/2-7)

अर्थ:—आत्मकल्याण एक ओर है और दूसरी ओर बैल (साँड) जैसे (लड़ने का उद्यत) वादी लोग विचरण कर रहे हैं। मुनिराजों ने कहीं भी वाक्-समरम्भ (वाद-कोलाहल) को मुक्ति का मार्ग नहीं कहा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वामी आचार्य कुन्दकुन्द के यशस्वी शिष्य

–श्रीमती रंजना जैन

ईसा पूर्व 108 में आन्ध्र प्रदेश गुण्टूर तहसील के अन्तर्गत कोंडकुंदी (कुन्दकुन्दपुरम्) ग्राम में जन्मे सर्वश्रेष्ठ दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द[1] की गौरवमयी यशोगाथा से आज समस्त अध्ययनप्रिय सज्जन परिचित हैं। शिलालेखों तथा अन्य ऐतिहासिक एवं पुरातात्त्विक साक्ष्यों में आचार्य कुन्दकुन्द के अनन्य शिष्य के रूप में **'आचार्य उमास्वामी'** का नाम भी आता है, जो कि 'गृद्धंपिच्छ' अपरनाम से अधिक विख्यात हुये। आपकी कालजयी कृति 'तत्त्वार्थ' या 'तत्त्वार्थसूत्र', जिसका अपरनाम आजकल 'मोक्षशास्त्र' भी प्रचलित है, की ख्याति जैन-वाङ्मय के प्रतिनिधि ग्रन्थ के रूप में सर्वत्र व्याप्त है।

मनुष्य की चिंतनशील प्रवृत्ति जहाँ अनेकों समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करती है, वहीं चिन्तन अथवा प्रज्ञा का अतिरंजित प्रयोग सीधी-सपाट बातों में मात्र संभावनाओं के आधार पर अनेकों विभ्रमों का भी सृजन कर देता है। लगभग यही स्थिति आचार्य उमास्वामी के बारे में हुई; जिससे उनके नाम, काल एवं साहित्य के बारे में कुछ भ्रमात्मक स्थिति का निर्माण हुआ है। प्रस्तुत आलेख में इन भ्रमों का समाधान करने का एक नैष्ठिक प्रयास किया गया है।

नामकरण

दिगम्बर परम्परा में इनका निर्विवाद नामकरण आचार्य **'उमास्वामी'** ही है। किन्तु श्वेताम्बर परम्परा में इसके ग्रन्थ 'तत्त्वार्थसूत्र' के भाष्यग्रन्थ 'तत्त्वार्थाधिगमभाष्य' के प्रणेता **'वाचक उमास्वाति'**[2] को मूलग्रन्थ का भी कर्त्ता सिद्ध करने की चेष्टा की गयी है। चूंकि दोनों नाम 'तत्त्वार्थसूत्र' ग्रन्थ से सम्पृक्त हैं, अत: इसके बारे में भ्रम की स्थिति आसानी से बन गयी। जबकि 'वाचक उमास्वाति' सूत्रकार 'आचार्य उमास्वामी' से पर्याप्त परवर्ती हैं।[3] किन्तु भ्रम की स्थिति को दृढ़ करने की भावना से एक सुनियोजित प्रचार किया गया कि 'वाचक उमास्वाति' ने ही मूल 'तत्त्वार्थसूत्र' ग्रन्थ की रचना की,तथा उन्होंने ही 'तत्त्वार्थाधिगमभाष्य' नाम से स्वोपज्ञ भाष्य का भी निर्माण किया। किन्तु यह सम्प्रदायगत-व्यामोह मात्र है, जिससे तथ्य की हानि ही हुई है। इसका स्पष्टीकरण निम्नानुसार है–

'तत्त्वार्थसूत्र' ग्रन्थ के कर्त्ता के रूप में 'उमास्वामी' नाम शिलालेखों, वृत्तियों, टीकाओं एवं भाष्यग्रन्थों आदि में अपेक्षाकृत कम प्रयुक्त हुआ है; जबकि 'गृद्धपिच्छ'[4] नाम अधिक प्रयुक्त हुआ है। जहाँ-जहाँ 'उमास्वामी' नाम आया भी है, वहाँ अधिकांशत: उसके विशेषण के रूप[5] में 'गृद्धपिच्छ' नाम का भी प्रयोग मिलता है। इस बिन्दु पर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूक्ष्मता से विचार किया जाये, तो हम पाते हैं कि श्वेताम्बर-परम्परा में इनको 'गृद्धपिच्छ उमास्वामी' की जगह 'वाचक उमास्वाति' अथवा 'आचार्य उमास्वाति' कहा गया है। इसके लिये 'तत्त्वार्थसूत्र' की प्रशस्ति का एक पद्य, जो दोनों परम्पराओं में पाया जाता है, तुलनार्थ देखें–

दिगम्बर परम्परा – तत्त्वार्थसूत्रकर्त्तारं गृद्धपिच्छोपलक्षितम्।
वन्दे गणीन्द्रसंजातमुमास्वामी-मुनीश्वरम्।।

श्वेताम्बर परघ्मपा -- तत्त्वार्थसूत्रकर्त्तारमुमास्वातिमुनीश्वरम्।
श्रुतकेवलिदेशीयं वन्देऽहं गुणमन्दिरम्।।

तुलना करने पर हम स्पष्टत: अनुभव करते हैं कि मात्र 'गृद्धपिच्छोपलक्षितम्' पद से बचने के लिये ही 'गुणमन्दिरम्' – इस पादपूर्ति का प्रयोग किया गया है। इसका मूलकारण यह है कि दिगम्बर-परम्परा में श्रमण मयूर के पंखों की पिच्छी अहिंसा एवं जीवदया के पालनार्थ रखते हैं, जबकि श्वेताम्बर-परम्परा के श्रमण कर्पास के सूत की बनी हुई दण्ड में निबद्ध सम्मार्जिनी का प्रयोग करते हैं। यहाँ तक कि किसी भी पक्षी के पंखों की पिच्छी का प्रयोग उनके यहाँ नहीं होता है।

जहाँ तक यह प्रश्न है कि जब दिगम्बर 'मयूरपिच्छी' धारण करते हैं, तो उमास्वामी आचार्य ने गृद्धपिच्छी क्यों धारण की? इसके बारे में प्रचलित कथानक तो यही है कि एक बार उनकी मायूरपिच्छी कोई जानवर या अन्य कोई उठा ले गया, तो उन्होंने तात्कालिक परिस्थितियों में गृद्धपक्षी के पंखों की पिच्छी धारण की थी; क्योंकि दिगम्बर जैन श्रमण 'पिच्छिका' के बिना गमनागमन आदि कोई भी क्रिया नहीं करते हैं। उनमें तो यहाँ तक कह दिया गया है कि **"णिप्पिच्छे णत्थि णिव्वाणं"**। हो सकता है कि यह घटना सत्य हो, तथा इसी कारण उसका नाम 'गृद्धपिच्छ' पड़ा हो। परन्तु मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि संभवत: उस परिस्थिति में उनकी समस्त व्यवहारचर्या रुक गयी होगी; तथा जब किसी श्रावक ने नयी मायूरपिच्छी लाकर दी होगी; तभी उनकी व्यवहारचर्या पुन: प्रारंभ हुई होगी; फलत: वे अपनी मायूरपिच्छी को अधिक संभालकर रखने लगे होंगे। 'पिच्छी' में उनकी गृद्धता (आसक्ति) को देखकर संभवत: किसी ने उन्हें 'पीछी में गृद्धतावाले आचार्य' (गृद्धपिच्छाचार्य) नाम दे दिया होगा। क्योंकि दिगम्बर जैन श्रमण मायूरपिच्छी ही धारण करते हैं।[6] इसका मूलकारण यही है कि मयूर पक्षी अपने पंखों का अहिंसक ढंग से कार्तिक मास में स्वत: विसर्जन करता है, अत: वे स्वत: आसानी से उपलब्ध हो जाते हैं। और चूंकि मयूर वन्य पक्षी है, अत: वनवासी जैनश्रमणों को यह सहज ही मिल जाते हैं। तथा मयूरपक्षी के पंखों के कारण विषैले जीव-जन्तु (सर्प आदि) भी निकट नहीं आते हैं, अत: साधना भी निर्विघ्न बनी रहती है।

उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में स्पष्ट है कि श्वेताम्बर परम्परा में तत्त्वार्थसूत्र के कर्त्ता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का 'गृद्धपिच्छ' विशेषण स्वीकार नहीं था, जबकि सम्पूर्ण जैन-परम्परा एवं साक्ष्यों में 'तत्त्वार्थसूत्र' के कर्त्ता के लिये 'गृद्धपिच्छ' विशेषण इतना अधिक प्रयुक्त है कि कई लोग इसे उनका मूलनाम समझने लगे हैं। अत: 'गृद्धपिच्छ' उपनाम वाले आचार्य 'तत्त्वार्थसूत्र' ग्रंथ के कर्त्ता हैं – यह तथ्य किसी प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं रखता है। तथा 'गृद्धपिच्छ' विशेषण दिगम्बर-परम्परा का ही है, अत: उनका दिगम्बर-परम्परा में मान्य नाम 'उमास्वामी' ही मूलनाम सिद्ध होता है, 'उमास्वाति' नहीं।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि दिगम्बर-परम्परा के कहे जाने वाले श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों में उनका नाम 'उमास्वाति' क्यों मिलता है? इसके उत्तर के लिये हमें उन शिलालेखों के बारे में कुछ जानकारी ले लेना अपेक्षित है। यह तथ्य है कि वे शिलालेख चाहे संस्कृत भाषा में हों या प्राकृतभाषा में, किन्तु उनकी लिपि कन्नड़ है। तथा कन्नड़ लिपि में 'ति' एवं 'मि' वर्ण के लेखन में घोर समानता है। देखें–

ति > ತಿ , मि > ಮಿ

अत: हो सकता है कि जिस शिल्पी ने ये शिलालेख उत्कीर्ण किये होंगे, उसको जो लिखकर पाठ दिया गया हो, उसमें पीछे की घुंडी (ɔ) लगाना छूट गयी हो; अत: उसने उमास्वामि की जगह उमास्वाति लिख दिया हो और फिर पाठ-दर-पाठ ऐसे पाठभेद निर्मित होते गये। सम्पादन-कला के निष्णात विज्ञजन भली-भाँति जानते हैं कि लिपिकर्त्ता बहुत विज्ञ एवं भाषाविद् नहीं हुआ करते थे, अत: उनसे ऐसी त्रुटियाँ प्राय: हो जाया करतीं थीं।

इस बात के पक्ष में एक प्रबल आधार यह भी है कि 'स्वामी' नामान्तवाले कई आचार्य हुये हैं– यथा – समन्तभद्रस्वामी, वीरसेन स्वामी, विद्यानन्द स्वामी आदि। तथा 'स्वामी' शब्द का व्यक्ति के नाम के साथ सार्थकता भी है। दक्षिण भारत में तो आज भी सम्मानसूचक शब्द के रूप में 'स्वामी' पद का प्रयोग करते हैं। किन्तु 'स्वाति' तो किसी नाम के साथ प्रयुक्त हुआ हो – ऐसे प्रमाण मुझे आज तक नहीं मिले; तथा यह शब्द भी मात्र नक्षत्रों के भेदों में परिगणित हुआ है, किसी के नाम के रूप में नहीं। अत: 'उमास्वाति' नाम की कोई तुक या सार्थकता प्रतीत नहीं होती है।

तत्त्वार्थसूत्रकर्त्ता का मूलनाम 'उमास्वामी' था, – इस तथ्य के पोषण में एक अन्य प्रमाण भी मैं यहाँ प्रस्तुत करना चाहती हूँ–

आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत 'प्रवचनसार' ग्रन्थ की 'तात्पर्यवृत्ति' टीका के कर्त्ता जयसेनाचार्य टीका के प्रारंभ में लिखते हैं–**"अथ काश्चिदासन्न भव्य: शिवकुमारनामा. ..... भगवत: पंचपरमेष्ठिनो........ प्रणम्य परमचारित्रमाश्रयमीति प्रतिज्ञां करोति।"**[7]

इसके बारे में वचनिकाकार लिखते हैं कि 'निकट भव्य शिवकुमार को सम्बोधन करने के लिये श्री कुन्दकुन्दाचार्य इस ग्रंथ (प्रवचनसार) की रचना करते हैं।'[8]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसमें आगत 'शिवकुमार' नाम ध्यान देने योग्य है। तमिल प्रान्त शैवमतावलम्बियों का बहुत प्राचीनकाल से व्यापक प्रभाव रहा है; तथा तदनुसार शिवप्पा, शिवभूति, उमापति आदि नाम वहाँ शैवों में बहुत प्रचलित रहे हैं। प्रतीत होता है कि शिवकुमार भी मूल में शैव थे तथा बाद में आचार्य कुन्दकुन्द से प्रभावित होकर उनके भक्त बन गये। उक्त उल्लेख से ज्ञापित होता है कि यह कुन्दकुन्दाचार्य का साक्षात् शिष्य लगता है; संभवतः इसी ने बाद में आचार्य कुन्दकुन्द से दीक्षा ले ली हो; क्योंकि आचार्य उमास्वामी भी कुन्दकुन्दाचार्य के शिष्य थे। तथा दीक्षोपरान्त दिये जाने वाले नामों में कभी-कभी पुराने नाम की छवि निहित होती थी। तो 'शिव जी' 'उमा' अर्थात् 'पार्वती' के 'स्वामी' अर्थात् 'पति' थे, अतः 'उमास्वामी' पद का अर्थ 'शिव' होता है। तो हो सकता है कि इन्हीं 'शिवकुमार' का दीक्षोपरान्त नामकरण 'उमास्वामी' हुआ हो। —इस आधार पर भी तत्त्वार्थसूत्र-कर्त्ता का नामकरण 'उमास्वामी' ही सिद्ध होता है, 'उमास्वाति' कदापि नहीं।

तथा आचार्य उमास्वामी आचार्य कुन्दकुन्द के न केवल साक्षात् शिष्य थे, अपितु उनके चिंतन एवं लेखन पर भी कुन्दकुन्दाचार्य के विचार एवं उनकी कृतियों के वाक्यों का घनिष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। तुलनार्थ नीचे लिखे वाक्यांश एवं सूत्रों को देखें—

आचार्य कुन्दकुन्द के वाक्य	'तत्त्वार्थसूत्र' के सूत्र
1. "दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्त-संजुत्तं। गुणपज्जयासयं वा जं तं भणंति सव्वण्हू।।" (पंचास्तिकाय 1/10)	सद् द्रव्य लक्षणम् (5/29) उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तंसत् (5/30) गुणपर्ययवद् द्रव्यम् (5/38)
2. "देवा चउण्णिकाया..." (पंचास्तिकाय 1/14)	देवाश्चतुर्निकायाः (4/1)
3. "धम्मत्थिकायाभावे" (नियमसार, 185)	धर्मास्तिकायाभावात् (10/8)
4. "दंसणणाणचरित्ताणि मोॅक्खमग्गो"... (समयसार, 410)	सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः (1/1)
5. "मिच्छादंसण-अविरदि-कसाय-जोगा... बंधस्स हेदव्वो।" (मूलाचार 11/207)	मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाः बन्धहेतवः (8/1)
6. "जीवो कसायजुत्तो...कम्मणो...जोॅग्गा पोॅग्गलदव्वे गिण्हदि, सो बंधो।"	सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः (8/12)
7. पयडि-ट्ठिदि-अणुभागप्पदेसबंधो (वही 11/210)	प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधयः। (8/13)
8. णाणस्स दंसणस्स य आवरणं वेदणीय-मोहणियं। आउग-णामा गोदं तहंतरायं च मूलाओ।।	आद्यो ज्ञानदर्शनावरण-वेदनीय मोहनीयायुर्नाम गोत्रान्तरायाः। (8/4)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(वही 11/211)

9. सादमसादं दुविहं (वही 11/215) — सदसद्वेद्ये। (8/8)

10. णिच्चुच्चगोदं च (वही 11/223) — उच्चैर्नीचैश्च (8/12)

11. मोहस्स सत्तरिं खलु वीसं णामस्स चेव गोदस्स।
तेतीसमाउगाणं उवमाओ सायराणं तु।।
(वही 230) — सप्ततिर्मोहनीयस्य (8/15)
विंशतिर्नामगोत्रयो: (8/16)
त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः (8/17)

इतने ही नहीं, और भी अनेकों ऐसे प्रसंग हैं, जो शब्दशः मात्र भाषान्तर के साथ कुन्दकुन्द-साहित्य से 'तत्त्वार्थसूत्र' में आगत हैं। स्थानाभाव के कारण सबका उल्लेख यहाँ नहीं किया है। वस्तुतः यह विषय पूर्णतः शोधदृष्टि से अन्वेषणीय है।

आचार्य कुन्दकुन्द एवं आचार्य उमास्वामी की समकालिकता को 'विद्वज्जनबोधक' ग्रन्थ में भी स्वीकार किया गया है।[9] इतना ही नहीं, आधुनिक श्वेताम्बराचार्य आनंद ऋषि जी ने भी लिखा है कि **"आचार्य उमास्वाति ने अचौर्य महाव्रत की भावनाओं में कुन्दकुन्दाचार्य का अनुगमन किया है।"**[10] इससे स्पष्ट है कि आचार्य उमास्वामी प्रसिद्ध दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द के साक्षात् शिष्य थे तथा लगभग समकालीन ही थे।

साहित्य—आचार्य उमास्वामी के कृतित्व के रूप में एकमात्र रचना 'तत्त्वार्थसूत्र' ही सर्वमान्य एवं निर्विवादरूप से स्वीकृत है। इसका मूल नाम 'तत्त्वार्थ' मात्र है, किन्तु सूत्रशैली में रचित होने से इसे 'तत्त्वार्थसूत्र' कहा गया। इस तथ्य का पोषण इस ग्रंथ की टीकाओं से होता है, जिनमें इसके नाम के साथ 'सूत्र' पद का प्रयोग नहीं मिलता है।[11]

यह दस अध्यायों में निबद्ध ग्रंथ है। अन्य वैशेषिक आदि दर्शनों के मूलग्रंथ भी लगभग इसी शैली में निबद्ध हैं तथा उनकी अध्याय-संख्या एवं सूत्र-संख्या भी लगभग इसके समान ही है।

दस अध्यायों में जीवाजीवादि सात तत्त्वार्थों का सूत्रात्मक शैली में वर्णन होने से इसकी 'तत्त्वार्थसूत्र' संज्ञा अन्वर्थिका है।

यह मूल दिगम्बर ग्रन्थ है, इसका एक प्रधान आधार यह है कि इसमें तीर्थंकर प्रकृति की कारणभूत सोलह भावनाओं (दर्शनविशुद्ध्यादि) का वर्णन है; जबकि श्वेताम्बर मान्यतानुसार तीर्थंकर प्रकृति की कारणभूत भावनाओं की संख्या बीस है। विद्वानों ने ऊहापोहपूर्वक इस तथ्य को अन्यत्र सिद्ध किया है, यहाँ विस्तार-भय से विराम लेती हूँ।

सन्दर्भसूची :—

1. द्रष्टव्य, कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली-67 से प्रकाशित 'समयसार' की प्रस्तावना (मुन्नुडि)।
2. द्र०, जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भाग 1, परिशिष्ट 4/4, पृष्ठ 490-491।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

3. द्र० सर्वार्थसिद्धि (भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन) की पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री-कृत 'प्रस्तावना'।
4. (क) "तह गिद्धपिंछाइरियप्पयासिद तच्चत्थसुत्ते वि" वर्तना-परिणाम क्रिया-परत्वापरत्वे च कालस्य "इदि दव्वकालो परूविदो।"

–(आ० वीरसेनस्वामी कृत धवला, 4/1, 5, 2/316 पृष्ठ)

4. (ख) "एतेन गृद्धपिच्छाचार्य-पर्यन्त-मुनिसूत्रेण व्यभिचारिता निरस्ता।"

–(आ० विद्यानन्दस्वामिकृत 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृष्ठ 6)

(ग) अतुच्छगुणसम्पातं गृद्धपिच्छं नतोऽस्मि तम्।
पक्षीकुर्वन्ति यं भव्या निर्वाणायोत्पतिष्णवः।।

–(आ० वादिराजकृत 'पार्श्वनाथ चरित', 1/16)

(घ) श्रवणबेल्गोल के शिलालेख क्र. 40, 42, 43, 47, 50, 105 एवं 108 में भी इनका नाम 'गृद्धपिच्छ' आया है। –(द्र० शिलालेख संग्रह, भाग 1)

5. "तत्त्वार्थसूत्र-कर्त्तारं गृद्धपिच्छोपलक्षितम्।
वन्दे गणीन्द्रसंजातमुमास्वामी-मुनीश्वरम्।।" *–(तत्त्वार्थसूत्र की प्रशस्ति का अंतिम पद्य)*
6. "तत्र दिगम्बराणां मायूरपिच्छे पिच्छिका।"।
7. प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति उत्थानिका का अंतिम पैराग्राफ, पृष्ठ 4।
8. वही पृष्ठ 5।
9. "वर्षे सप्तशते चैव सप्तत्या च विस्मृतौ।
उमास्वामिमुनिर्जातः कुन्दकुन्दस्तथैव च।।"
10. द्र० भावना योग : एक विश्लेषण, पृष्ठ 28।
11. द्र० आचार्य अकलंकदेव, विद्यानंद स्वामी आदि की टीकायें।

कर्मफल

'सुखदुःखदो न चान्योऽति यतः स्वकृतभुक् पुमान्'

(सुख दुःख का देनेवाला कोई और नहीं है क्योंकि मनुष्य अपने किये हुए कर्मों का परिणाम भोगता है।)

—भागवत 10/38 (दशम स्कंध 54, अध्याय 38)

* * *

धर्म न दूसर सत्य समाना। आगम-निगम-पुरान बखाना।
कहू न कोउ सुख-दुःख कर दाता। निजकृत करम भोग सबु भ्राता।।

—संत तुलसीदास

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रेरक व्यक्तित्व

गुरुवर्य पं० नाथूलाल जी शास्त्री

—पद्मश्री बाबूलाल पाटोदी

[गृहस्थाश्रम में रहते हुये 'योगी' के, समाज की अहर्निश सेवा में संलग्न किंतु कमलपत्र की भाँति निर्लिप्त महामनीषी के, प्रतिष्ठा-कार्यों एवं कर्मकांडों की दुकानें चलाते तथाकथित प्रतिष्ठाचार्यों के बीच एक ऐसे तपस्वी प्रतिष्ठाविद् के, जिसकी गरिमापूर्ण उपस्थिति एवं सूक्ष्मज्ञान के संबल से प्रतिष्ठाकार्य भी प्रतिष्ठित हो गये हों – ऐसे ही और भी अनेकों गुणविभूषित संतुलित महान् विद्वद्रत्न के दर्शन करना हो, तो आज एक ही नाम समाज में निर्विवाद है; और वे हैं संहितासूरि पं० नाथूलाल जी शास्त्री, इन्दौर (म०प्र०)। आज अस्सी वर्ष से अधिक की वृद्धावस्था में भी युवकों को भी आदर्श बन सके—ऐसी सजग, सक्रिय जीवनशैली, सात्त्विक संयमी दिनचर्या एवं अनवरत ज्ञानोपासना को परिलक्षित रखते हुए वे बीसवीं शताब्दी के जीते-जागते आश्चर्य एवं सचल-सवाक् संस्था है; जो आत्महित एवं जनहित में सतत समर्पित हैं।
पंडितप्रवर नाथूलाल जी शास्त्री के अनन्य कृपापात्र समाजसेवी कर्मठ व्यक्तित्व पद्मश्री बाबूलाल जी पाटोदी के आदरणीय विद्वद्वर्य के प्रति उद्गार उन्हीं के शब्दों में 'प्राकृतविद्या' के पाठकों के लिये प्रस्तुत हैं। —*सम्पादक*]

जब कभी गुरूवर्य पं० नाथूलाल जी दीख पड़ते हैं, या उनके विविध संपर्कों का स्मरण हो आता है, तो मस्तक आपोंआप श्रद्धा से झुक जाता है। एक सूक्ति है कि "लक्ष्य तू कर्म-मुक्ति का रख; किन्तु जब तक उस केन्द्र-बिन्दु तक तेरी पहुँच नहीं बन जाती, उस पथ के पथिक के रूप में एक आदर्श मनुष्य तो बन।" —इसके परिप्रेक्ष्य में मैं निःसंकोच कह सकता हूँ कि "पण्डितजी उस पथ के सर्वोत्तम पथिक हैं।" विवेक उनके जीवन में सदैव और सर्वत्र परिलक्षित है। न वे खयाली है और न ही किसी कल्पना – लोक में विहार करते हैं; न वे विशुद्ध आत्मार्थी (यहाँ 'विशुद्ध' यानी 'कोरा') बनने का उपदेश देते हैं, और न ही वे इस विचार का प्रचार-प्रसार करते हैं कि 'मात्र क्रियाकाण्ड ही सर्वस्व है, उसमें ऐड़ी-चोटी लगे रहना धर्म है।' वस्तुतः अतिवादों से उनका कोई सरोकार नहीं है। वे यथार्थवादी हैं और इसीलिए श्रावक के छह कर्त्तव्यों का प्रतिपल पालन करते हैं। मैंने अनुभव किया है कि क्रोध, मान, माया, लोभ की अति उनसे कोसों दूर है। स्पष्टवादिता, धार्मिक संस्कारों के प्रति अविचलता, विनय, वात्सल्य, श्रुतभक्ति उनके जीवन के जर्रे-जर्रे में प्रतिच्छायित है।

पण्डितजी ने कई प्रतिष्ठाएँ सम्पन्न करवायी हैं, किन्तु क्या कभी आपने सुना है कि उन्होंने प्रतिष्ठाचार्य के रूप में कोई धन/भेंट स्वीकार की है? वे एक कठोर प्रतिष्ठिाचार्य हैं, जो प्रतिष्ठाकारक के हाथ की कठपुतली नहीं बनते; वरन् शास्त्रोक्त-रीति से प्रतिष्ठाकार्य सम्पन्न करवाते हैं। इस कठोरता के कारण उन्हें कई बार संघर्ष

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करना पड़ा; किन्तु कभी वे झुके नहीं; सदैव दृढ़, अभीत और अविचल बने रहे; और जब यह अनुभव किया कि प्रतिष्ठाकारक समाज में केवल अपनी नाम-बढ़ावरी के लिए प्रतिष्ठाऐं करवाते हैं, तब उन्होंने प्रतिष्ठाएँ करवाना ही बन्द कर दिया।

गौर करने पर हम पायेंगे कि पण्डितजी पुराने और नये विचारों के बीच एक सुदृढ़ – शक्तिशाली सेतुबन्ध हैं; इसीलिए उनके पास युवा, बाल, वृद्ध सभी श्रद्धापूर्वक जाते हैं और अपनी समस्याओं का संतुलित समाधान प्राप्त कर संतुष्ट हो लौटते हैं। बात यह है कि पण्डितजी केवल शास्त्रज्ञ नहीं है, अपितु समाज के अन्धविश्वासों और फिजूल की रूढ़ियों के निरसन में अगुआई करते रहे हैं। समाज में जन्म से मरण तक अनेक अन्धी परम्पराएँ हैं, किन्तु पण्डितजी उनके कट्टर विरोधी हैं। युवावर्ग इसीलिए उनके साथ है कि वे जैनधर्म की वैज्ञानिकताओं में आस्था रखते हैं, उनका प्रतिपादन करते हैं, और एक तर्कसंगत तथ्य के लिए जान की बाजी लगाकर भी जूझना पसंद करते हैं। वे सरल, सौम्य, निश्छल, सब के सुख-दुःख के साथी, कुशल सामाजिक कार्यकर्ता और विवेक-सम्पन्न विद्वान् है। हमने स्वयं देखा है कि वे पूज्य **आचार्यश्री विद्यानन्दजी** मुनिराज की चातुर्मास-सभाओं में प्रवचन-पूर्व के मंगलाचरण करते थे और किसी विचार के प्रति लोगों की चक्षु उन्मीलित करते थे। मंगलाचरण के रूप में पण्डितजी का औपचारिकता से बहुत ऊपर एक सुबोध, प्रेरक, सुन्दर, लघुप्रवचन ही होता था। आचार्यश्री ने स्वयं उनके गहन-ज्ञान की प्रशंसा की है।

जब श्रद्धेय पण्डितजी के सम्मान की चर्चा चली और उनके कानों तक यह खबर पहुँची तब उन्होंने स्पष्ट कहा कि "मैं इन्दौर छोड़कर चला जाऊँगा। मुझे ऐसे आयोजनों में रुचि नहीं है।" इस पर मैंने तथा मेरे मित्रों ने पण्डितजी से निवेदन किया कि "हम पण्डित नाथूलाल जी शास्त्री का न तो सम्मान ही कर रहे हैं और न ही करना चाहते हैं। वस्तुतः हम तो एक विद्वत्-परम्परा का आदर-अभिनन्दन करना चाहते हैं; क्योंकि इतिहास साक्षी है कि पण्डितजी ने सदियों संघर्ष किया है और हमारी श्रुत-संपदा को सुरक्षित रखा है, तथा हमें उसके रसास्वादन का सुवर्ण अवसर प्रदान किया है। हम उसके कृतज्ञ और चिरऋणी है, इसलिए हम उस गौरवशाली पण्डित-परम्परा का सम्मान करने जा रहे हैं, जिसने अधपेट रहकर भी जिनवाणी की रक्षा की और उसे सुरक्षित अक्षुण्ण हमें सौंपा।"

वर्तमान में पूज्य पण्डित गोपालदास जी बरैया, पूज्यपाद वर्णीजी–महाराज के पदचिन्हों पर हमारे विद्वान् चलें और हमारी अक्षय-अखूट ज्ञान-संपदा की रक्षा करें, सम्मान का मुख्य लक्ष्य यही है। हमें विश्वास है, पूज्य पण्डितजी जहाँ एक ओर अतीत की स्वस्थ परम्पराओं को बचायेंगे (उन्हें व्यर्थ ही नष्ट नहीं होने देंगे); वहीं दूसरी ओर नये संदर्भों में कतिपय नयी स्वस्थ एवं रचनात्मक परम्पराओं का प्रवर्तन भी करेंगे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विद्यानन्दाष्टकम्

—उपाध्याय कामकुमारनन्दी

सरस्वत्या: सेवा-परिणत-विवेक: श्रुतिधन: ।
बहूनां ग्रन्थानां विरचितनिकाय: कविगुरु: ।।
प्रभा दिव्या धर्मे प्रवचनपटु: सौम्यचरित: ।
यती विद्यानन्द: परिभजतु लोकं सुकृतिभि: ।। 1 ।।

अर्थ:—सरस्वती की सेवा से समुत्पन्न विवेकवाले, श्रुति (शास्त्रज्ञान) रूपी धन सम्पन्न, बहुत से ग्रन्थ-समूह (शास्त्रसमूह) के मध्य रहनेवाले, कविजनों के भी गुरु, दिव्यप्रभा-समन्वित, धर्म-प्रवचन में निष्णात, सौम्य आचरणवाले यतिवर आचार्यश्री विद्यानन्द जी लोक में सुकृतीजनों (विद्वज्जनों) के द्वारा पूजनीय हैं।

गुणौघो विद्यानां प्रविलयति पापान् कुमतिजान् ।
यशो-धौतं देहं दिनमणिरिवेको वितनुते ।।
सदा गेय: शिष्यैरनुदिवसमुपदेशनविधौ ।
यती विद्यानन्द: परिभजतु लोकं सुकृतिभि: ।। 2 ।।

अर्थ:—जो सद्विद्याओं से उत्पन्न गुणों के समूह रूप हैं, कुमति से होने वाले पापों को विनष्ट करनेवाले हैं, यश: से निर्मल शरीरवाले हैं, सूर्यकांतमणि के समान भास्वर हैं, आपके द्वारा दिये गये उपदेशों का शिष्यगण प्रतिदिन गुणगान अनुकथन करते हैं —ऐसे यतिवर विद्यानन्द जी लोक में विद्वज्जनों के द्वारा भी पूजनीय हैं।

सदानन्दो धर्मे बुध्र-चरित-सिन्धु-र्मुनिवर: ।
प्रभा दिव्या यस्य प्रसरति जगत्यां प्रवचनै: ।।
प्रवीणो भाषाणां नय-नयन-रूप: श्रुतिमताम् ।
यती विद्यानन्द: परिभजतु लोकं सुकृतिभि: ।। 3 ।।

अर्थ:—जो सदा धर्माचरण में ही आनंदित रहते हैं, ज्ञानिजनों के चरित्रों के आख्यानों के सागर हैं, मुनिप्रवर हैं, मंगल-प्रवचनों के माध्यम से जिसकी दिव्यप्रभा भूमण्डल पर प्रसरित है, जो अनेकों भाषाओं में निपुण हैं, शास्त्रज्ञों नीतिमार्ग पर लाने वाले हैं—ऐसे यतिवर विद्यानन्द जी लोक में विद्वज्जनों के द्वारा पूजनीय हैं।

सदा सम्यङ्मूर्ति: प्रविमलमना आर्यविभव: ।
किशोरावस्थायां परिहृतकलत्र: मुनि-सख: ।।
यशो लक्ष्मीर्यस्य प्रभवति विनीतो मम गुरु: ।
यती विद्यानन्द: परिभजतु लोकं सुकृतिभि: ।। 4 ।।

अर्थ:—जो सर्वदा मूर्तिमान् सत्कार्यस्वरूपी हैं, अत्यन्त निर्मल मनवाले हैं, सज्जनता ही जिनका वैभव है, किशोरावस्था में ही जिन्होंने स्त्री-सम्बन्धी राग को छोड़कर बालब्रह्मचर्यव्रत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लिया है, जो मुनियों के सखा हैं, धवल कीर्ति ही जिनकी लक्ष्मी है, ऐसे मेरे गुरु अत्यन्त विनय-सम्पन्न हैं —ऐसे यतिवर विद्यानन्द जी लोक में विद्वज्जनों के द्वारा भी पूजनीय हैं।

महाप्राज्ञ: साधु: प्रतिहत-तमो मोहवलय:।
दयामूर्ति: स्फूर्तिर्भवति जगतां पावनकृतौ ।।
सदा सौम्यो हासैर्हरति जन तापं मनसिजम्।
यती विद्यानन्द: परिभजतु लोकं सुकृतिभि:।। 5।।

अर्थ:—जो महाज्ञानी हैं, सज्जन प्रकृतिवाले हैं, जिन्होंने मोहरूपी अंधकार का समूह नष्ट कर दिया है, जो दया की मूर्ति हैं, जिनकी पावन कृतियों से जगत् के जीवों में स्फूर्ति का संचार होता है, जो अपनी सौम्य मुस्कान से लोगों के कामजन्य ताप को हर लेते हैं —ऐसे यतिवर विद्यानन्द जी लोक में विद्वज्जनों के द्वारा भी पूजनीय हैं।

महामंत्र: सिद्धेस्तपसि-महितो ब्रह्मणिरत:।
निधि: सद्विद्यानां फल-नत-तरु: स्वादु-फलक:।।
प्रभाते मांगल्यै: परिहरति कालुष्यमघजम्।
यती विद्यानन्द: परिभजतु लोकं सुकृतिभि:।। 6।।

अर्थ:—जो आत्मसाधना में निरत हैं, सिद्धि (मोक्ष) के महामंत्र तपस्या से महिमावान् हैं, सद्विद्याओं की निधि हैं, फलों के भार से झुके हुये (विनम्र) वृक्ष के स्वादिष्ट फलक के समान हैं, जिन्होंने जीवन के प्रभातकाल (बाल्यावस्था) में ही पापजन्य कालुष्य को मंगल श्रमणचर्या से दूर किया है —ऐसे यतिवर विद्यानन्द जी लोक में विद्वज्जनों के द्वारा भी पूजनीय हैं।

अनेकान्तं द्रव्यं यदपि जगतां पुद्गल-युतम्।
समाक्रान्तो जीवस्तदुपधिविपाशै: परिवृढै:।।
तपोभिर्निर्ग्रन्थ: गत इव विमुक्तिं कृतिवर:।
यती विद्यानन्द: परिभजतु लोकं सुकृतिभि:।। 7।।

अर्थ:—इस संसार में पौद्गलिक पदार्थों के दृढ़ मोहजाल में फँसकर जीव अत्यन्त आक्रान्त है, दिव्य अनेकान्तरूपी शस्त्र एवं तप:साधनारूपी प्रहार से उस दृढ़ मोहपाश की ग्रन्थियों को काटकर जो श्रेष्ठ ज्ञानी विमुक्तवत् हैं, —ऐसे यतिवर विद्यानन्द जी लोक में विद्वज्जनों के द्वारा भी पूजनीय हैं।

सदा वन्द्यो लोके धृतमति-श्रुतज्ञान-परम:।
अहिंसास्तेयानां व्रतमवचरिष्णुर्जिनमतम्।।
विमुक्तिं कर्मभ्यो गत इव सतीर्थो मुनिवर:।
यती विद्यानन्द: परिभजतु लोकं सुकृतिभि:।। 8।।

अर्थ:—जो लोक में बड़े-बड़े मति-श्रुतज्ञानियों के द्वारा सदा वन्दनीय हैं, जो जिनमत के अहिंसा-अस्तेय आदि महाव्रतों के अनुपालक हैं, जो मुनिवर कर्मों से विमुक्ति को प्राप्त व्यक्ति से कुछ न्यून उपमा योग्य हैं —ऐसे यतिवर विद्यानन्द जी लोक में विद्वज्जनों के द्वारा भी पूजनीय हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्थायी स्तम्भ

समयसार के पाठ

—डॉ० सुदीप जैन

[प्रस्तुत स्तम्भ में समयसार के पाठों की उन भूलों की ओर ध्यानाकर्षित किया जा रहा है, जो कि आधुनिक सम्पादकों/प्रकाशकों की असावधानी अथवा मूलपाठ न देखने की प्रवृत्ति अथवा मात्र प्रकाशनरुचि से 'मक्षिकास्थाने मक्षिकानिक्षेप:' की वृत्ति से छपने के कारण 'समयसार' के कतिपय प्रकाशित संस्करणों में आ गयीं है। और जिनके कारण परमज्ञानी आचार्य कुन्दकुन्द के 'समयसार' की स्वरूपहानि हो रही है। उनका परिष्कार एवं आचार्य कुन्दकुन्द के शुद्ध मूलपाठों का प्रस्तुतीकरण ही इस स्तम्भ का एकमात्र लक्ष्य है। —सम्पादक]

'समयसार' की गाथा **19वीं** में एक शब्द आया है **'अहकं'**; जो कि भाषाविज्ञान एवं व्याकरणिक-दृष्टि से विशिष्ट प्रयोग है। किन्तु प्रतिलिपिकारों एवं सम्पादकों की भाषा-अनभिज्ञता एवं उपेक्षादृष्टि से 'समयसार' में इसका 'अहयं' पाठान्तर प्रचलित हो गया है। प्रथमत: मूलगाथा और उसके अर्थ का अवलोकन करें—

कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव।। 1/19।।

अर्थ:—जब तक इस आत्मा की द्रव्यकर्म, भावकर्म एवं शरीरादि नोकर्म में 'यह मैं हूँ' तथा 'मुझमें कर्म और नोकर्म हैं' —ऐसी बुद्धि रहती है; तब तक यह आत्मा अज्ञानी बना रहता है।

उक्त अर्थ से स्पष्ट है कि 'अहं' एवं 'अहकं' — दोनों पद समानार्थक हैं; मात्र छन्दानुरोध से 'अहं' की वीप्सा (पुनरुक्ति) न करके उसी अर्थ में 'अहकं' इस पद का प्रयोग किया गया है। —यह तो इसके विशेष प्रयोग का औचित्य हुआ। अब इसका भाषिक एवं व्याकरणिक-दृष्टि से निर्धारण अपेक्षित है—

"अव्यय-सर्वनाम्नामकच् प्राक् टे:।। 5/3/71।।"

—*(सिद्धान्तकौमुदी, पूर्वार्द्ध, पृष्ठ 314, सूत्र क्र. 2026)*

इसके अनुसार 'अहम्' ('अस्मद्' शब्द) की 'टि' के पूर्व 'अकच्' प्रत्यय का विधान होकर 'अहकं' शब्द निष्पन्न होता है, और इसके अर्थ में कोई भी अन्तर नहीं आता; अर्थात् 'अहं' शब्द के पर्यायवाची के रूप में इसका प्रयोग मिलता है।

विख्यात भाषाविद् डॉ० उदयनारायण तिवारी अपनी पुस्तक 'हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास' (पृ०82) में स्पष्ट करते हैं कि प्राचीन मागधी एवं शौरसेनी प्राकृतों में 'अहं' का प्रतिरूप 'अहकं' हो गया था। 'प्राकृत प्रकाश' के कर्त्ता भी स्पष्टत: 'अहकं' को मागधी का रूप मानते हैं (द्रं० प्राकृत प्रकाश, परिशिष्ट, पृष्ठ 246)।

सुविख्यात प्राकृतभाषाविद् डॉ० जगदीश चन्द जैन ने 'अहकं' प्रयोग को प्राकृतभाषा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में अपेक्षाकृत प्राचीन प्रयोग माना है (द्र० 'प्राकृत साहित्य का इतिहास', पृष्ठ 516)। सम्राट् अशोक के शिलालेखों में भी 'अहकं' के लिये जो 'हकं' शब्द का प्रयोग मिलता है, उसमें आदि अकार का लोप भले ही हुआ है, किन्तु अन्त्य 'क' वर्ण सुरक्षित रहा है। प्राकृतभाषा के विकासक्रम में हम पाते हैं कि ईसापूर्व के प्राकृत साहित्य में 'अहकं' एवं 'हकं' प्रयोग सुरक्षित रहे हैं; जबकि ईसा के बाद में उद्‌भूत 'महाराष्ट्री' एवं 'अर्धमागधी' प्राकृतों में इसके स्थान पर 'अहअं', 'अहयं' एवं 'अहगं' रूप भी मिलते हैं। ईसापूर्व काल में इन प्राकृतों के अस्तित्व का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। प्रतीत होता है कि परवर्ती काल में 'सरलीकरण' एवं 'मुखसुख' की प्रवृत्ति की प्रधानता के कारण इन प्राकृतों में ये रूप निर्मित हुये हैं।

अब प्रश्न यह है कि यदि ये रूप ईसापूर्व के ही नहीं हैं, तो ईसापूर्व में हुये आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य में वे कैसे आ सकते हैं? निश्चित ही पाण्डुलिपियों में ये रूप प्रतिलिपिकारों के समय में प्रचलित प्रयोग (अहयं) का प्रभाव दर्शाते हैं। चूंकि आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य की कोई भी मूलप्रति अथवा ईसापूर्व की प्राचीन प्रतिलिपि उपलब्ध नहीं है, अन्यथा परवर्ती प्रतिलिपिकार का यह दोष स्वत: स्पष्ट हो जाता। किन्तु टीकाकारों ने 'अहकं' को ही मूलपाठ माना है, तथा अधिकांश प्राचीन पाण्डुलिपियों में भी 'अहकं' प्रयोग ही मिलता है; अत: इसके मूलपाठ होने में सन्देह का कोई कारण शेष नहीं रह जाता है। तथापि जो सम्पादक 'समयसार' में 'अहयं' पाठ का प्रयोग करते हैं, वे वस्तुत: प्राकृतभाषा की प्रकृति एवं उसकी परम्परा से अनभिज्ञ हैं; तथा शब्दों की विकासयात्रा का विधिवत् कोई अध्ययन उन्होंने नहीं किया है—ऐसा प्रतीत होता है; अन्यथा वे कुन्दकुन्द के 'समयसार' में 'अहयं' को मूलपाठ बनाकर प्रस्तुत नहीं करते। हाँ ! इसे पाठान्तर बनाकर पादटिप्पण में देते, तो कोई आपत्ति नहीं थी। किन्तु उन्होंने उसे मूलपाठ बनाकर कुन्दकुन्द के मूलप्रयोग को तो बदला ही है, समस्त टीकाकारों एवं अधिसंख्य प्रतिलिपियों के पाठ को भी उपेक्षित किया है।

किसी अन्य टिप्पणी से पूर्व मैं यहाँ समयसार के अद्यावधि प्रकाशित प्रमुख संस्करणों के पाठ जिज्ञासु पाठकवृन्द के विचारार्थ प्रस्तुत करना चाहता हूँ—

क्रम सं०	प्रति परिचय	पाठ	पृष्ठ संख्या
1.	अहिंसा मन्दिर प्रकाशन	अहकं	47
2.	कलकत्ता प्रकाशन	अहकं	72
3.	पं० गजाधर लाल जी की प्रति	अहकं	15
4.	सहजानंद ग्रंथमाला, मेरठ	अहकं	58
5.	परमश्रुत प्रभावक मंडल, अगास	अहकं	47
6.	निजानंद ग्रंथमाला	अहकं	19
7.	वर्णी ग्रंथमाला, वाराणसी	अहकं	42
8.	सोनगढ़ प्रकाशन	अहकं	51

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

9.	मराठी संस्करण, कारंजा	अहकं	55
10.	कन्नड़ संस्करण, बैंगलोर	अहकं	55
11.	भावनगर संस्करण	अहकं	52
12.	कुन्दकुन्द कहान ट्रस्ट	अहकं	49
13.	कन्नड़ ताड़पत्रीय प्रति	अहयं	32
14.	रायबहादुर जे.एल.जैनी (अंग्रेजी)	अहयं	16
15.	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन (अंग्रेजी)	अहयं	28

इनमें जिन संस्करणों में जयसेनाचार्य की टीका दी गयी है, उनमें भी 'अहकं' पाठ टीका में भी मिलता है। टीका का मूलपाठ है—**"अहकं च कम्म णोकम्मं–अहकं च कर्म नोकर्मेति प्रतीतिः।"** चूंकि अमृतचन्द्राचार्यकृत 'आत्मख्याति' टीका पदव्याख्या शैली की टीका नहीं है, अतः उसमें प्रायशः मूलपाठ का उल्लेख नहीं मिल पाता है; किन्तु जयसेनाचार्यकृत 'तात्पर्यवृत्ति' टीका पदव्याख्या शैली की टीका होने से जयसेनाचार्य के समक्ष जो कुन्दकुन्दाचार्य के मूलपाठ थे, उन्होंने उन्हें अपनी टीका में उल्लेख करते हुये ही टीका की है। अतः कुन्दकुन्द के अधिकांश मूलपाठ शुद्ध रूप में 'तात्पर्यवृत्ति' टीका से देखे जा सकते हैं। तथा पाठ-सम्पादन का तो यह आदर्शवाक्य ही है कि **'टीकाओं में मूलपाठ अपेक्षाकृत प्रामाणिक रूपों में सुरक्षित मिलते हैं।'**

इसके अतिरिक्त **श्री सहजानंद वर्णी** जी ने अपनी **'सप्तदशांगी टीका'** में व्याकरण-विवरण भी यथासंभव प्रस्तुत किया है। उसी के पृष्ठ 59 पर 'अहकं' शब्द को कुन्दकुन्द का मूलपाठ मानते हुए 'अस्मद्' शब्द का प्रथमा एकवचन का प्राकृतरूप बतलाया है। कन्नड़ ताड़पत्रीय प्रति में भी टीका में 'अहकं' के लिए 'अहं' शब्द का प्रयोग मिलने से इसकी पुष्टि हुई है।

प्रस्तुत स्तम्भ में एक बात और मुझे विचारणीय लगी कि 'अभी तक जिन संस्करणों में मूलपाठ प्रायशः अनेकविध रूपों में कभी शुद्ध, कभी अशुद्ध, तो कभी-कभी अति हास्यास्पद भी मिले; उनमें भी अधिकांश में 'अहकं' रूप यानि शुद्धपाठ ही मिला। किन्तु जिनकी प्रतिष्ठा मूलपाठों के प्रति अधिक जागरूक रहने की एवं अपेक्षाकृत प्रामाणिक पाठ मिलने की रही है, उनमें 'अहयं' पाठ मिला है। यथा—कन्नड़ ताड़पत्रीय पाण्डुलिपि एवं भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण आदि।' —इस तथ्य से पाठ-सम्पादन का यह सिद्धान्त और अधिक पुष्ट हो जाता है कि 'पाठ-सम्पादक' को अपनी आँखें एवं दिमाग सदैव खुला रखना चाहिये; पूर्वधारणा के आधार पर किसी प्रतिष्ठित प्रति के पाठ को भी बिना जाँचे-परखे आँख बन्द कर स्वीकार करने की उपेक्षावृत्ति पाठ-सम्पादन की प्रामाणिकता को नष्ट कर सकती है। क्योंकि क्षणिक प्रमाद, स्खलन या लेखनदोष आदि किसी भी कारण से प्रतिष्ठित प्रतियों में भी गलत पाठ मिल सकते हैं। अतः पाठ-सम्पादन में निरन्तर सावधानी, सूक्ष्मदृष्टि, परम्परा का ज्ञान एवं ऊहापोहपूर्वक निर्णय का अभ्यास अत्यन्त अनिवार्य अंग के रूप में सम्पादक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पालन करे —ये प्रामाणिक सम्पादन के लिये अपरिहार्य शर्तें हैं।

अत: 'अहकं' शब्द के प्रयोग के बारे में इतने विशद स्पष्टीकरण के बाद विज्ञजनों को तो सन्देह या भ्रम का अवकाश रह ही नहीं सकता; कि 'अहकं' ही शुद्धपाठ है, 'अहयं' नहीं। हाँ ! जिन्हें इस विषय का ज्ञान नहीं है, वे तो स्वयं भी भ्रमित रह सकते हैं और दूसरों को भी दिग्भ्रमित कर सकते हैं। कहा भी है—

"यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा तस्य शास्त्र: करोति किम्?
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पण: किं करिष्यति?"

कन्नड़ साहित्य के महाकवि रण्ण ने लिखा है कि "भाषाशास्त्र एवं उसके अर्थ का यथार्थग्रहण मणिधारी सर्प के मस्तक से मणि निकालने जैसा दुष्कर कार्य है। इस कार्य के लिये व्यक्ति को आठ हृदयों जितनी विशाल क्षमता का धनी होना (अर्थात् इतनी सहनशक्ति, विचारक्षमता, एवं गंभीरता का होना) अपेक्षित है।" यदि ऐसा नहीं होगा, तो फिर 'पल' (माँस) और 'फल' में जरा-सा ही तो भेद होता है — इसकारण भगवान् को अर्घ्य चढ़ाते समय यदि 'फलम्' की जगह "पलम् निर्वपामीति स्वाहा" उच्चारण किया जाये; तो कितना अनर्थ होगा — इसकी कल्पना की जा सकती है। अत: लेखन, सम्पादन, वाचन आदि बौद्धिक कार्यों में 'असिधाराव्रत' की तरह निरन्तर सावधानी एवं अभ्यास अपेक्षित है।

भाषा, विषय एवं सम्पादन कला – इन तीनों का व्यवस्थित ज्ञान न होने से ही अनेकों विसंगतियाँ खड़ी होती हैं। मैंने जब प्रथम सम्पादनकार्य के रूप में 'अमृताशीति' को चुना, तो सर्वप्रथम महीनों मूड़बिद्री रहकर योग्य विद्वानों के निर्देशन में कन्नड़ भाषा एवं लिपि का ज्ञान प्राप्त किया; फिर संस्कृत-प्राकृत आदि भाषाओं के पूर्वज्ञान का प्रयोगकर पाण्डुलिपि संपादन की बारीकियां सीखीं। उसमें भी फिर ताड़पत्रीय पाण्डुलिपियों के सम्पादन का वैशिष्ट्य सीखा। तब अन्य प्रतियों से तुलनात्मक अध्ययनपूर्वक लिप्यन्तरण करके सम्पादित प्रति तैयार की। इस समस्त कार्य में लगभग साढ़े चार वर्ष का समय लगा था। तब भी अर्थ की विसंगति आदि की दृष्टि से एक-एक शब्द पर एक-एक माह लग जाता था; तब कहीं जाकर व्यापक अध्ययन एवं विचार-विमर्श के बाद सही निर्णय हो पाता था। अत: प्राचीन पाण्डुलिपियों एवं आचार्यों के ग्रन्थों के सम्पादन के गुरुतर दायित्व की गंभीरता को हम समझें, और विवेकपूर्वक कार्य करें, तो 'अहकं' जैसे प्रयोगों के बारे में दुविधा, भ्रम या सन्देह की स्थितियाँ बनेंगी ही नहीं।

सम्पूर्ण वाङ्मय के प्रति दायित्वबोध जागृत हो, मात्र आर्थिक एवं भौतिक संसाधनों से वाङ्मय का प्रकाशन-कार्य नहीं होकर उसमें सर्वाधिक गरिमापूर्ण एवं अपरिहार्य बौद्धिक संसाधन पक्ष का भी प्रबल प्रयोग हो – यह आज गंभीरतापूर्वक विचारणीय है। और इस विचारार्थ प्रेरणा देने के लिए ही यह स्तम्भ प्रवर्तित है।

❖❖

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धर्म की परिधि और पर्यावरण

—डॉ० भागचन्द्र जैन 'भास्कर'

धर्म महज रूढ़ियों और रीति-रिवाजों का परिपालन-मात्र नहीं है। वह तो जीवन से जुड़ा एक सर्जनात्मक सर्वदेशीय तत्त्व है, जो प्राणिमात्र को वास्तविक शान्ति का संदेश देता है, मिथ्याज्ञान और अविद्या को दूरकर सत्य और न्याय को प्रगट करता है, तर्कगत आस्था और श्रद्धा को सजीव रखता है, बौद्धिकता को जागृतकर सद्भावना के पुष्प खिलाता है; और बिखेरता है उस स्वानुभूति को, जो अन्तर में ऋजुता-सरलता और प्रशान्त-वृत्ति को जन्म देती है। वह तो रिम-झिम बरसते बादल के समान है, जो तन-मन को आल्हादितकर आधि-व्याधियों की ऊष्मा को शान्त कर देता है।

धर्म की परिभाषा और पर्यावरण

धर्म की शताधिक परिभाषायें हुई हैं। उन परिभाषाओं का यदि वर्गीकरण किया जाये, तो उन्हें साधारण तौर पर तीन प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है— **मूल्यात्मक, वर्णनात्मक और क्रियात्मक**। ये तीनों प्रकार भी एक-दूसरे में प्रवेश करते दिखाई देते हैं। कोई एक तत्त्व पर जोर देता है, तो कोई दूसरे तत्त्व को अधिक महत्त्व देता है। इसलिए कान्ट जैसे दार्शनिकों ने उसके वैज्ञानिक-स्वरूप को प्रस्तुत किया, जिसमें मानवता को प्रस्थापित कर धर्म को ईश्वर-विश्वास से पृथक् कर दिया। कुन्दकुन्द आदि जैनाचार्यों ने तो धर्म को इस रूप में बहुत पहले ही खड़ा कर दिया था और पर्यावरण को प्रदूषित होने से बचाया था।

भारतीय संस्कृति में जब हम 'धर्म' शब्द पर विचार करेंगे, तो हमारा ध्यान ब्राह्मण और श्रमण संस्कृति की ओर बरबस खिंच जाता है। धर्म 'धृञ्' धातु से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ होता है : बनाये रखना, धारण करना, पुष्ट करना (**धारणात् धर्ममित्याहः धर्मेण विधृताः प्रजाः**)। यह वह मानदण्ड है, जो विश्व को धारण करता है। वेदों में इस शब्द का प्रयोग धार्मिक विधियों के अर्थ में किया गया है। 'छान्दोग्योपनिषद्' में धर्म की तीन शाखाओं (स्कन्धों) का उल्लेख किया गया है, जिनका सम्बन्ध गृहस्थ, तपस्वी और ब्रह्मचारियों के कर्तव्यों से है — (**त्रयो धर्मस्कन्धाः** – 2.23)। जब 'तैत्तिरीय उपनिषद्' हमसे धर्माचरण (**धर्मं चर** – 1.11) करने को कहता है; तब उसका अभिप्राय जीवन के उस सोपान के कर्तव्यों के पालन से होता है, जिसमें हम विद्यमान हैं। इस अर्थ में धर्म शब्द का प्रयोग 'भगवद्गीता', और 'मनुस्मृति' दोनों में हुआ है। एक बौद्ध के लिए धर्म बुद्ध और संघ या समाज के साथ-साथ 'त्रिरत्न' में से एक है। पूर्व मीमांसा के अनुसार धर्म एक वांछनीय वस्तु है, जिसकी विशेषता है प्रेरणा देना — **"चोदना लक्षणो धर्मः।"** वैशेषिक सूत्रों में धर्म की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"जिससे आनन्द (अभ्युदय) और परमानन्द (नि:श्रेयस) की प्राप्ति हो वह धर्म है"
– "यतोऽभ्युदयनि:श्रेयस: सिद्धि: स धर्म:।"

जैनधर्म अर्हत्धर्म है, जहाँ कर्मों को नष्टकर मोक्ष प्राप्त करना मुख्य उद्देश्य रहता है। इस दृष्टि से जैनाचार्यों ने धर्म को विविधरूप से समझाने का प्रयत्न किया है और तदनुसार उसकी परिभाषायें दी हैं। इन परिभाषाओं को हम निम्न रूप से विभाजित कर सकते हैं :

1. धर्म का सामान्य स्वरूप, 2. धर्म का स्वभावात्मक स्वरूप, 3. धर्म का गुणात्मक स्वरूप, 4. धर्म का मोक्षमार्गात्मक स्वरूप।

(1) धर्म का सामान्य स्वरूप

जैनाचार्यों ने सामान्यत: धर्म उसे कहा है, जो सांसारिक दु:खों से उठाकर उत्तम वीतराग सुख में पहुँचाये। यथा—

1. संसारदु:खत: सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे -*(रत्नकरण्डश्रावकाचार - 2)*
2. इष्टस्थाने धत्ते इति धर्म: -*(सर्वार्थसिद्धि, 1.2; तत्त्वार्थवार्तिक, 1.2.3.)*
3. यस्माज्जीव नारक-तिर्यग्योनि-कुमानुष-देवत्वेषु प्रपततां धारयतीति धर्म: -*(दशवैकालिक चूर्णि, पृ० 15)*

जैनाचार्यों की धर्म की इन परिभाषाओं को देखकर ऐसा लगता है कि वे व्यक्ति को प्रथमत: सांसारिक दु:खों से मुक्त होकर परमात्म-पद को प्राप्त करने का आह्वान करते हैं। बार-बार दु:ख का साक्षात्कार करने से बीमार रोग की प्रगाढ़ता से परिचित हो जाता है, वस्तु-स्थिति को स्वयं जानने लगता है और फिर उसी आत्मा में वास करने वाले परमानन्द स्वरूप को प्राप्त करने का लक्ष्य बना लेता है। तथाकथित ईश्वररूप परमात्मा का भाव उसके मन में आता ही नहीं; है भी नहीं। इसलिए जैनधर्म को नकारात्मक और दु:खवादी नहीं माना जाना चाहिए। जैनधर्म संसार को स्वप्न और माया भी नहीं कहना चाहता। वह तो हमें उसकी यथार्थता से परिचित कराता है। इसलिए धर्म की यह परिभाषा बड़ी व्यावहारिक है और जैनधर्म भी उसी व्यावहारिक दृष्टिकोण के साथ संसारियों को दु:ख से मुक्त कराने का प्रयत्न करता है। उसे वह उन दु:खों से पलायन करने की सलाह नहीं देता, बल्कि जुड़ाने और संघर्ष करने की प्रेरणा देता है तथा आगाह करता है कि इन सांसारिक दु:खों के मूलकारण राग और द्वेष हैं। कर्म 'मोह' की प्रबलता से उत्पन्न होते हैं। वह जन्म-मरण का मूल है और जन्म-मरण की भव-परम्परा दु:ख का मूल है। इस संसार में कहीं भी सुख नहीं है। जन्म-मरण के चक्कर में सुख होगा भी कहाँ? इसलिए यदि हम यथार्थ सुख पाना चाहते हैं, तो जन्म-मरण के भव-चक्कर से मुक्त होना आवश्यक है। उपादेय भी यही है।

इस घोषणा में व्यक्ति की स्वतन्त्रता उद्घोषित है। उसे स्वयं विचार करने और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ध्यान करने की स्वतन्त्रता प्राप्त है। उसके ऊपर ईश्वर जैसा कोई तनाव नहीं है। वह स्वयं अपने कर्म का निर्माता और भोक्ता है। इस चिन्तन से वैराग्य का जागरण होता है, सचेतनता आती है, क्रान्ति होती है, रूपान्तण होता है और समता का जन्म हो जाता है। समता आने से साधक के चैतन्य की दशा विरागता से भर जाती है। वह संसार में रहते हुए भी उसीप्रकार वहाँ रहता है, जिसप्रकार पोखर में खिला हुआ कमल; जो जल में रहता हुआ भी जल उसका स्पर्श भी नहीं कर पाता।

भावे विरत्तो मणिओ विसोगो, एएण दुक्खोहरपरंपरेण।
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोखरणि पलासं।।

जैनधर्म के चिन्तन का केन्द्रीभूत तत्त्व आत्मा है। आत्मा के अतिरिक्त उसमें न संसार का मूल्य है और न परमात्मा का। वह स्वार्थ की बात करता है, स्वयं के कल्याण की, मंगल की, आत्महित की। आत्महित की बात करने वाला ही परहित की बात सोच सकता है।

2. धर्म का स्वभावात्मक-समतामूलक स्वरूप

इस परिभाषा के अन्तर्गत वस्तु और व्यक्ति के स्वभाव की ओर संकेत किया गया है। वस्तु का असाधारण धर्म ही उसका स्वभाव है, उसके भीतरी गुण ही उसका स्वरूप है। उत्पाद, व्यय और स्थिति में पदार्थ अपना स्वरूप बनाये रखता है। इसमें स्वभाव की दृष्टि से आत्मा के स्वरूप पर भी विचार किया गया है, जो समतामूलक है। जैसे—

1) **धम्मो वत्थुसहावो** -*(कार्ति० अनु० 478.*
2) **स्वंसवेद्यो निरुपाधिको हि रूपं वस्तुत: स्वभावोऽभिधीयते.**
3) **मोहक्खोह-विहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो** -*(भावपा०, 81.)*
4) **धर्म: श्रुत-चारित्रात्मको जीवस्यात्मपरिणाम: कर्मक्षयकारणम्** -*(सूत्रकृतांग, सू०शी०वृ० 2.5.14).*
5) **सम्यग्दर्शनाद्यात्मपरिणामलक्षणो धर्म:** -*(धर्म सं० मलया वृ० 25.)*

संकल्प के समक्ष सत्य रहता है, जिसकी कोई सीमा नहीं होती। असत्य की तो सीमा रहती है। संकल्पी व्यक्ति सत्य की खोज में रहता है। परमात्मावस्था को वापिस पाने की तलाश में एकाकी बन जाता है और समत्व-योग की साधना करता है। यही समता व्यक्ति का वास्तविक धर्म है, स्वभाव है; जो पर्यावरण को प्रदूषित होने से बचाता है।

'धर्म' तथा 'समता' को राग-द्वेषादिक विकारी भावों की अभावात्मक स्थिति कहा जाता है। ममत्व का विसर्जन और सहिष्णुता का सर्जन उसके आवश्यक अंग हैं। मानसिक चंचलता को संयम की लगाम से वशीभूत करना तथा भौतिकता की विषादाग्नि को आध्यात्मिकता के शीतल जल से शमन करना समता की अपेक्षित तत्त्व-दृष्टि है। सहयोग, सद्भाव, समन्वय और संयम उसके महास्तम्भ हैं। श्रमण का यही सही रूप है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसी को आचार्य कुन्दकुन्द ने इसप्रकार कहा है—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हि समो।।
सुविदिदपयत्थ-सुत्तो संजम-तव-संजुदो विगदरागो।
समणो समसुह-दुक्खो भणिदो सुद्धोवओगो त्ति।।

समता आत्मा का सच्चा धर्म है। इसलिए आत्मा को 'समय' भी कहा जाता है। 'समय' की गहन और विशद व्याख्या करने वाले समयसार आदि ग्रन्थ इस संदर्भ में द्रष्टव्य हैं। सामायिक जैसी क्रियायें उसके 'फील्डवर्क' हैं। अहिंसा उसी का एक अंग है। वह तो एक निर्द्वन्द्व और शून्य अवस्था है; जिसमें व्यक्ति निष्पक्ष, वीतराग, सुख-दु:ख में निर्लिप्त, प्रशंसा-निन्दा में निरासक्त, लोष्ठ-कांचन में निर्लिप्त तथा जीवन-मरण में निर्भय रहता हैं, —यही श्रमण अवस्था है।

(3) धर्म का गुणात्मक स्वरूप

धर्म वस्तुत: आत्मा का स्पन्दन है; जिसमें कारुण्य, सहानुभूति, सहिष्णुता, परोपकार वृत्ति, संयम, अहिंसा, अपरिग्रह जैसे गुण विद्यमान रहते हैं। वह किसी जाति, या सम्प्रदाय से प्रतिबद्ध नहीं। उसका स्वरूप तो सार्वजनिक, सार्वभौमिक और लोक-मांगलिक है। व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व का अभ्युत्थान ऐसे ही धर्म की परिसीमा में संभव है।

धर्म के इस गुणात्मक स्वरूप की परिभाषायें इसप्रकार मिलती हैं—

(1) **धम्मो दया-विसुद्धो** –*(बोधपाहुड, 25)*

(2) **धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो** –*(सर्वार्थसिद्धि, 6.13)*

(3) **क्षान्त्यादि-लक्षणो धर्म:** –*(तत्त्वार्थसार 6.52)*

धर्म और अहिंसा में शब्दभेद है, गुणभेद नहीं। धर्म अहिंसा है और अहिंसा धर्म है। क्षेत्र उसका व्यापक है। अहिंसा एक निषेधार्थक शब्द है। विधेयात्मक अवस्था के बाद ही निषेधात्मक अवस्था आती है। अत: विधिपरक हिंसा के अनन्तर इसका प्रयोग हुआ होगा। इसलिए संयम, तप, दया आदि जैसे विधेयात्मक मानवीय शब्दों का प्रयोग पूर्वतर रहा होगा। पर्यावरण भी इसी से संबद्ध है।

समस्त प्राणियों के प्रति संयमभाव ही अहिंसा है—**"अहिंसा-निउणं दिट्ठा सव्वभूयेसु संजमो।"** उसका सुख संयम में प्रतिष्ठित है। मन, वचन, काय से संयमी व्यक्ति स्व-पर का रक्षक तथा मानवीय गुणों का आगार होता है। शील, संयमादि गुणों से आपूर व्यक्ति ही सत्पुरुष है। जिसका चित्त मलिन और दूषित रहता है, वह अहिंसा का पुजारी कभी नहीं हो सकता। जिसप्रकार घिसना, छेदना, तपाना और रगढ़ना —इन चार उपायों से स्वर्ण की परीक्षा की जाती है। उसीप्रकार श्रुत, शील, तप और दया रूप गुणों के द्वारा धर्म एवं व्यक्ति की परीक्षा की जाती है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धम्मो मंगल-मुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तस्स पणमंति जस्स धम्मे सया मणो।। –*(प्रतिक्रमण सूत्र, 8, पृ० 259)*
संजमु सीलु सउज्जु तवु सूरि हि गुरु सोई।
दाहक-छेदक-संघायकसु उत्तम कंचणु होई।। –*(भावपाहुड – 143)*

जैन संस्कृति मूलत: अपरिग्रहवादी संस्कृति है। जिन, निर्ग्रन्थ, वीतराग जैसे शब्द अपरिग्रह के ही द्योतक हैं। 'मूर्छा' परिग्रह की पर्यायार्थक है। यह मूर्छा प्रमाद है और प्रमाद कषायजन्य भाव है। राग-द्वेषादि भावों से ही परिग्रह की प्रवृत्ति बढ़ती है। मिथ्यात्व, कषाय, नोकषाय आदि भाव अन्तरंग परिग्रह है और धन-धान्यादि बाह्यपरिग्रह हैं। ये आस्रव के कारण हैं। आस्रव का कारण आसक्ति है, परिग्रह है। परिग्रह का मूल साधन हिंसा है; झूठ, चोरी, कुशील उसके अनुवर्तक है और परिग्रह तथा प्रदूषण उसके फल हैं। परिग्रही वृत्ति व्यक्ति को हिंसक बना देती है। इस हिंसक वृत्ति से व्यक्ति तभी विमुख हो सकता है, जब वह अपरिग्रह या परिग्रह-परिमाणव्रत का पालन करे।

क्षमा, मार्दव आदि दस धर्मों का पालन भी धर्म है। मनुष्य अनेक चित्तवाला है। क्रोधादि विकारों के कारण वह बहुत भूलें कर डालता है। इन क्षमादि-दस धर्मों का पालन करने से संकल्प-शक्ति का विकास होता है और साधक ध्यान-साधनाकर आत्मस्वरूप के चिन्तन में डूबने लगता है।

(4) धर्म का मोक्षमार्गात्मक स्वरूप

तीर्थंकर महावीर ने साधना की सफलता के लिए तीन कारणों का निर्देश किया है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। इन तीनों तत्त्वों को समवेत रूप में 'रत्नत्रय' कहा जाता है। 'दर्शन' का अर्थ श्रद्धा अथवा व्यावहारिक परिभाषा में 'आत्मानुभूति' कह सकते हैं। श्रद्धा और आत्मानुभूति पूर्वक ज्ञान और चारित्र का सम्यक् योग ही मोक्षरूप साधना की सफलता में मूलभूत कारण है। मात्र ज्ञान अथवा चारित्र से मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिए इन तीनों की समन्वित अवस्था को ही मोक्षमार्ग कहा गया है—**सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग:** –*(तत्त्वार्थसूत्र, 1.1)*। रत्नत्रयं का पालन ही धर्म है। इसप्रकार की परिभाषायें देखिए—

1. **सद्दृष्टि-ज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदु:** –*(रत्नकरण्डश्रावकाचार – 3.)*
2. **धम्मो णाम सम्मद्दंसण-णाण-चरित्ताणि** –*(धवला, पु० 8, पृ० 92.)*
3. **सम्यग्दृग्प्राप्तिचारित्रं धर्मो रत्नत्रयात्मक:** –*(लाटी संहिता – 4, 237-38.)*

मोक्ष-प्राप्ति का रत्नत्रय के साथ अविनाभाव-सम्बन्ध है। जिसप्रकार औषधि पर सम्यक् विश्वास, ज्ञान और आचरण किये बिना रोगी रोग से मुक्त नहीं हो सकता; उसी प्रकार संसार के जन्म-मरण रूपी रोग से मुक्त होने के लिए रत्नत्रय का सम्यक् योग होना आवश्यक है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हताचाज्ञानिनां क्रिया।
धावन् किलान्धको दग्धः पश्चन्नपि च पंगुलः।।
संयोगमेवेह वदन्ति तज्ज्ञा ह्येकचक्रेण रथः प्रयाति।
अन्धश्च पंगुश्च वने प्रविष्टौ तौ संप्रयुक्तौ नगरे प्रविष्टौ।।

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—इन सात तत्त्वों और पुण्य-पाप को मिलाकर नव पदार्थों में रुचि होना सम्यग्दर्शन है – **तच्चरुई सम्मत्तं** –*(मोक्खपाहुड, 38)*। सच्चे देव, शास्त्र और गुरू का ज्ञान होना भी सम्यग्दर्शन है। वह परोपदेश से अथवा परोपदेश के बिना भी प्रगट होता है। इन दोनों प्रकारों में आत्मप्रतीति होना मूल कारण है। आत्मप्रतीति से सम्यग्ज्ञान होता है। सम्यग्ज्ञान वह है, जिसमें संसार के सभी पदार्थ सही स्थिति में प्रतिबिम्बित हों। प्रमाण और नय इसी सीमा में आते हैं।

सम्यक् आचरण को सम्यक्चारित्र कहा जाता है; जिसमें कोई पाप-क्रियायें न हों, कषाय न हों, भाव निर्मल हों तथा पर-पदार्थों में रागादिक विकार न हो। यह सम्यक्चारित्र दो प्रकार का होता है – गृहस्थों के लिए और मुनियों के लिए। एक अणुव्रत है, दूसरा महाव्रत है। इन व्रतों की संख्या बारह है – अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत इन पंचव्रतों को पालन करने में सहायक बनते हैं और सामायिक, प्रोषधोपवास, –भोगोपभोग-परिमाण तथा अतिथि-संविभाग —इन चार व्रतों का पालन करने से सामाजिकता का पालन होता है।

मूल्यांकन

जैनागम-ग्रन्थों में धर्म की इन चारों परिभाषाओं को एक स्थान पर भी एकत्रित किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में भी ये परिभाषायें मिलतीं हैं। उनका सुन्दर एकत्रीकरण आचार्य कार्तिकेय ने किया है—

धम्मो वत्थु-सहावो, खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
रयणत्तयं च धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो।।

–*(कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 478)*

उत्तरकालीन आचार्यों ने भी आचार्य कार्तिकेय का अनुकरण किया है। वस्तुतः ये परिभाषायें धर्म के विविधरूपों को उजागर करती हैं। उनमें कोई भेद नहीं है, वर्णन करने का तरीका अवश्य अलग-अलग है। इन सारी परिभाषाओं की आधार-शिला है—

"जं इच्छसि अप्पणत्तो, जं च णेच्छसि अप्पणत्तो।
तं इच्छ परस्स वि या, एत्तियगं जिणसासणं।।"

अर्थात् अपने लिये वही चाहो, जो तुम दूसरों के लिए भी चाहते हो और जो तुम अपने लिये नहीं चाहते, वह दूसरों के लिए भी मत चाहो। —यही जिनशासन है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैनधर्म में धर्म की ये सारी परिभाषायें 'समता' को केन्द्र में रखकर बनाई गई हैं। समता पाने का इच्छुक साधक परम्परा का पालन नहीं करता। वह तो अपने में हर पल क्रान्ति देखता है, नयी ज्योति पाता है। इसलिये धर्म वैयक्तिक है, सामूहिक नहीं। उस ज्योति को पाने में उसे स्वाध्याय सबसे बड़ा सहयोगी तत्त्व सिद्ध होता है और उसी तत्त्व से वह सत्य को जाता है।

जैनधर्म भावप्रधान धर्म है, इसलिए वहाँ ऊँच-नीच सभी के लिए समान स्थान रहा है। वैदिक संस्कृति में प्रस्थापित जातिवाद की कठोर श्रृंखलाओं को काटकर महावीर ने जन्म के स्थान पर कर्म का आधार लिया। उन्होंने कहा कि उच्च कुल में उत्पन्न होने मात्र से व्यक्ति को ऊँचा नहीं कहा जा सकता। वह ऊँचा तभी हो सकता है, जबकि उसका चरित्र या कर्म ऊँचा हो। इसलिए महावीर ने समानता के आधार पर चारों जातियों की एक नई व्याख्या की और उन्हें एक मनुष्य जाति के रूप में देखा — **"मनुष्य जातिरेकेव।"**

> **कम्मुणा बम्मणो होई कम्मुणा होई खत्तियो।**
> **वइस्सो कम्मुणो होई सुद्दो होई कम्मुणा।।** —*(उत्तरा० 25.19)*
> **ब्राह्मणक्षत्रियादीनां चतुर्णामपि तत्त्वत:।**
> **एकेव मानुषी जातिराचारेण विभज्यते।।** —*(महापुराण)*

वस्तुत: जैनधर्म ने समाज और देश को अभ्युन्नत करने के लिए सभी प्रकार से प्रयत्न किया। आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र से भ्रष्टाचार दूर कर सर्वोदयवादी और अहिंसावादी विचारधारा को प्रचारित करने का अथक प्रयत्न किया, धनोपार्जन के सिद्धान्तों की न्यायवत्ता की ओर मोड़ा, मूक प्राणियों की वेदना को अहिंसा की चेतनादायी संजीविनी से दूर किया, सामाजिक विषमता की सर्वभक्षी अग्नि को समता के शीतल जल और मन्द वयार से शान्त किया। जीवन के हर अंग में अहिंसा के महत्त्व को प्रदर्शित कर मानवता के संरक्षण में जैनधर्म ने सर्वाधिक योगदान दिया। यह उसकी गहन चारित्रिक निष्ठा का परिणाम था।

'पर्यावरण' धर्म की इन सभी परिभाषाओं से आबद्ध है। वह मानवता का पाठ पढ़ाकर समतामूलक अहिंसा की प्रतिष्ठा करता है और प्राणिमात्र को सुरक्षा प्रदान करने का दृढ़ संकल्प देता है। सामाजिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक प्रदूषण को दूर करने की दिशा में जैनधर्म ने जो महनीय योगदान दिया है, वह अपने आप में अनूठा है। इस दृष्टि से धर्म की परिभाषा में और पर्यावरण की सुरक्षा में जैनधर्म जितना खरा उतरता है, उतना अन्य कोई धर्म दिखाई नहीं देता। यही उसकी अहिंसा है, यही उसका कारुणिक रूप है और इसी से पर्यावरण की सुरक्षा होती है। अहिंसा, संयम, समता और करुणा मानवता के अंग हैं, पर्यावरण के रक्षक हैं। जैनधर्म सर्वाधिक मानवतावादी धर्म है, अहिंसा का प्रतिष्ठापक है। इसलिए पर्यावरण की समग्रता को समाहित किये हुए है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भारतीय आर्यभाषा का तुलनात्मक अध्ययन

–डॉ० हीरालाल जैन

विद्वद्वर्य डॉ० हीरालाल जी जैन लेखन एवं सम्पादन के ऐसे मिथक बन गये कि दर्शन के अतिरिक्त भाषा, सम्पादन-विधि आदि क्षेत्रों में उनकी लेखनी से प्रसूत वाक्यावलि आर्षवाक्य के समान विद्वज्जनों में भी समादृत हुईं। वे एक महान् साहित्यकार, भाषाशास्त्री निष्णात सम्पादक, दार्शनिक, गंभीर विचारक एवं सफल लेखक थे। लोकैषणा से दूर रहकर उन्होंने जो अविस्मरणीय साहित्यसेवा की है, उसके प्रति समस्त जैन समाज एवं भारतीय जनमानस सदैव कृतज्ञता का अनुभव करता रहेगा। तथा विद्वन्मण्डली उनसे प्रेरणा पाकर अपने चिन्तन एवं लेखन के द्वारा नये आयाम विकसित कर सकेगी। डॉ० ए०एन० उपाध्ये सदृश महामनीषी के अभिन्नहृदय मित्र डॉ० हीरालाल जी की सूक्ष्मप्रज्ञा से प्रसूत यह लेख 'प्राकृतविद्या' के जिज्ञासु पाठकों के रसास्वादन एवं ज्ञानवृद्धि के निमित्त यहाँ प्रस्तुत है।

–सम्पादक

परिवर्तनशीलता प्रकृति का नियम है और भाषा इस नियम का अपवाद नहीं है। जिसप्रकार पृथ्वी के ही नहीं, किन्तु चन्द्रमा पर के कंकर-पत्थर लाकर उनके विश्लेषण से वैज्ञानिक उनके निर्माण की प्राचीनता का पता लगाते हैं; उसीप्रकार भाषा-वैज्ञानिकों ने कुछ ऐसे तत्त्व और नियम पकड़ लिये, जिनके द्वारा वे किसी भाषा के गठन, उसकी प्राचीनता, अन्य भाषाओं से सम्बन्ध तथा विस्तार आदि का पता लगा लेते हैं। भाषाशास्त्री यह तो अभी तक नहीं जान पाये कि 'मनुष्य ने भाषा बोलना कब से प्रारम्भ किया।' किन्तु वे इतना अवश्य सिद्ध कर चुके हैं कि 'भाषा के निर्माण में प्रकृति का योगदान केवल इतना ही है कि मनुष्य के कण्ठ व मुख के अन्य उपांगों की रचना ऐसी है कि उनके द्वारा वह असंख्य प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न कर सकता है।' बस, इसी शक्ति को पाकर मनुष्य ने नाना वस्तुओं के नामोच्चारण किये, विविध क्रियाओं व घटनाओं को अलग-अलग ध्वनियों द्वारा प्रकट किया, और फिर अपने अन्तरंग के भावों व विचारों को कहने, सुनाने की भी विधि निकाल ली। इसप्रकार भाषा का निर्माण मनुष्य के अपने प्रयत्न द्वारा हुआ।

यह भाषा-निर्माण की प्रक्रिया भिन्न-भिन्न भूभागों में विविध प्रकार से विकसित हुई। सैकड़ों नहीं, सहस्रों जन-समुदायों में जो बोलियाँ बोली जाती हैं, उनके मौलिक तत्त्वों का तुलनात्मक अध्ययन करके भाषा-वैज्ञानिकों ने अनेक भाषा-परिवारों का पता लगाया है; जैसे भारोपीय भाषा-परिवार, सामी, हामी, मंगोली, निषाद व द्राविड आदि। इनमें भारतीय परिवार अपने विस्तार, बोलनेवालों की संख्या, संस्कृति प्राचीनता व साहित्य आदि दृष्टियों से विशेष महत्त्वपूर्ण है।

भारत की आर्यभाषा का प्राचीनतम रूप वेदों में प्राप्त होता है, और उसे यहाँ दिव्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनादि-प्रवृत्त व अपौरुषेय माना गया था। किन्तु भाषाशास्त्रियों ने अब यह सिद्ध किया है कि वैदिक भाषा का वह रूप तीन-चार सहस्र वर्षों से अधिक प्राचीन नहीं है। उससे पुराने शब्द-रूप उस काल के मिलते हैं, जब भारतीय और ईरानी जन-समाज पृथक् नहीं हुए थे; और वह सम्मिलित समुदाय एक-सी बोली बोलता था। यह बात वैदिक और प्राचीन ईरानी अर्थात् पहलवी तथा पारसियों के प्राचीन धर्म-ग्रन्थ 'अवेस्ता' की भाषाओं के मिलाने से स्पष्ट हो जाती है। यही नहीं, पश्चिम एशिया के भिन्न-भिन्न भागों से कुछ ऐसे लेख भी मिले हैं, जिनसे पता चलता है कि उस काल मे अपने आज के अनेक सुप्रचलित नामों व शब्दों का हिन्द-ईरानी समाज कैसा उच्चारण करता था। जिन देवों को अब हम सूर्य, इन्द्र और वरुण कहते हैं; उन्हें आज से चार हजार वर्ष पूर्व के आर्य लोग 'सुरिअस्' 'इन्तर' और 'उरुवन' कहते थे। हमारे आज के एक, तीन, पाँच और सात उस काल के अइक, तेर, पंद्ज और सत्त हैं। इन शब्दों में हमें संस्कृत से भिन्न प्राकृत भाषा की प्रवृत्तियाँ स्पष्ट दिखाई देती हैं।

भारोपीय भाषा की इस हिन्द-ईरानी शाखा के प्राय: साथ ही यह कछ आगे-पीछे हित्ती और तुखारी नाम की शाखाएँ पृथक् हुईं; व तत्पश्चात् ग्रीक आदि यूरोपीय शाखाएँ। इन शाखाओं का हिन्द-ईरानी शाखा से मुख्य भेद यह है कि आदिम भारोपीय भाषा के वर्ग की जो कण्ठ्य, कण्ठ-तालव्य और कण्ठ-ओष्ठ्य –ये तीन श्रेणियाँ थीं; उनमें से कण्ठ-तालव्य श्रेणी का हिन्द-ईरानी व उसी के समाज स्लावी, रूसी आदि में ऊष्मीकरण हो गया है। अर्थात् क्य, ग्य आदि का उच्चारण स् होने लगा और इसप्रकार वे 'केन्तुम्' और 'सतम्' वर्गों में विभाजित हो गयीं। उदाहरणार्थ जिस भारोपीय मूलभाषा का स्वरूप उसकी उक्त शाखाओं के तुलनात्मक अध्ययन से निश्चित किया गया, उसमें 'सौ' के लिए शब्द था 'क्यंतोम्' जिसका रूपान्तर 'केन्तुम्' वर्ग की लैटिन शाखा में केन्तुम्, ग्रीक में हेक्तोन् तथा तोखारीमें 'कंतु' हुआ। परन्तु 'सतम्' वर्गीय रूसी में 'स्तौ', स्लाव में सूतो, अवेस्ता में सवअम् तथा वैदिक में शतम् हो गया। इस क और स के परस्पर मूल एकत्व के मर्म को समझ जाने पर अँगरेज़ी के 'कामन' और 'कमेटी' तथा हिन्दी के 'समान' और 'समिति' जैसे शब्दों के रूप और अर्थ में कोई भेद एवं उनके पैत्रिक एकत्व में कोई सन्देह नहीं रहता। भारोपीय 'क्व' यूरोपीय भाषाओं में 'Q' वर्ण के रूप में अवतरित हुआ। किन्तु किन्हीं स्थितियों में वह अँगरेज़ी में 'व्ह' [whe] के रूप में पाया जाता है। जैसे who, what, where आदि। वही भारतीय आर्यभाषा में कहीं क ही रहा, जैसे क: किम् क्व आदि, और कहीं च में परिवर्तित हुआ, जैसे Quarterim चत्वारि, Quit, च्युत, Quiet शान्त।

यदि हम इन और ऐसे ही अन्य अनेक वर्ण-परावर्तन व उच्चारण-भेद के नियमों को समझ लें, तो यूरोपीय और भारतीय आर्यभाषाओं में चामत्कारिक समानत्व व एकत्व

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दिखाई देने लगता है। तब तरु और ट्री, फुल्ल और फ्लावर, शैल और हिल, शाला और हॉल आदि में तो कोई भेद रहता ही नहीं; किन्तु आई और अहं, दाउ और त्वं, ही, शी और इट् एवं सः, सा व इदं, दैट व दिस और तत् व एतद् की विषमता भी दूर हो जाती है। **Rama's mother** और रामस्स मादा में तो कोई भेद है ही नहीं।

जब हिन्द-ईरानी शाखा दो में विभाजित होकर अपना अलग-अलग विकास करने लगी, तब वैदिक और अवैदिक भाषाओं में भी अन्तर पड़ गया। इस अन्तर में प्रधानता है ईरानी में **स** का **ह** उच्चारण, जैसे असुर, अहुर, सप्त—हप्त, सिन्धु—हिन्दु आदि। और दूसरे उसकी वर्ण-विरलता की प्रकृति, जिससे उसके शब्दों व पदों में संयुक्त वर्णों की सन्धि का अभाव पाया जाता है। यह विशेषता प्राकृत भाषाओं से मेल खाती है।

वैदिक भाषा में वर्ण-संगठन, सन्धि, संयुक्त व्यंजन-प्रयोग तथा विभक्ति-बाहुल्य का उदय हुआ। **क** वर्ग की तीन श्रेणियाँ टूटकर एक ही रह गयीं तथा **च** वर्ग और **ट** वर्ग का समावेश नया हुआ। ऊष्मीकरण के विस्तार से **श** और **ष** वर्ण भी नये आ गये। इस प्रकार वैदिक भाषा ने भारोपीय भाषा-परिवार में अपना एक विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया, जिसका काल ई०पू० **1000** से **1500** के लगभग अनुमान किया जाता है।

भाषा-विज्ञान के इन सुविज्ञात तथ्यों का यहाँ वर्णन करना कुछ अप्रासंगिक-सा अवश्य प्रतीत होगा। किन्तु उनका यहाँ उल्लेख इस विशेष उद्देश्य से किया गया है कि जिससे वैदिक भाषा के उत्तरकालीन प्राकृत भाषाओं में विकास का इतिहास उसकी समुचित पृष्ठभूमि में समझा जा सके, और यह मानकर नहीं कि भाषाविकास का क्रम केवल वैदिक से ही प्रारम्भ हुआ है। वस्तुतः अब वैदिक भाषा उक्त अन्तराष्ट्रीय विकास-शृंखला में आदि की नहीं, किन्तु मध्य की एक कड़ी बन जाती है। जब वेदों की रचना हो रही थी, तब उनके रचयिता ऋषि अन्य जन-सामान्य बोलते तो वही भाषा थे; किन्तु बोली और साहित्यिक भाषा का भेद तो तब भी था। स्वयं 'ऋग्वेद' (10, 71, 2) में कहा गया है कि—'जैसे सूप से सत्तू को परिष्कृत किया जाता है, वैसे ही बुद्धिमान् लोग बुद्धिबल से परिष्कृत भाषा को प्रस्तुत करते हैं।' बस, यहीं से प्रकृति-परम्परा से व्यवहृत जनभाषा प्राकृत और संस्कार से परिष्कृत संस्कृत का भेद प्रारम्भ हो जाता है। भाषा के इन दोनों रूपों का उल्लेख वैदिक व उत्तरकालीन साहित्य में बराबर होता रहा है। 'कौशीतकी ब्राह्मण' में कहा गया कि '**उत्तर में बहुत विद्वत्तापूर्ण वाणी बोली जाती है—और शुद्ध वाणी सीखने-हेतु लोग उत्तराखण्ड को जाते हैं। तथा जो कोई वहाँ से सीखकर आता है, उसे सुनने को लोग उत्सुक रहते हैं।** यहाँ हमें स्पष्ट ही लोकभाषा से आगे बढ़कर उसके परिनिष्ठित मानक रूप के निर्माण की सूचना मिलती है। 'रामायण' (किष्किन्धा काण्ड) में **शुद्ध भाषा सीखने-हेतु व्याकरण के अध्ययन तथा अशुद्ध भाषण (अपभाषित) से बचने की बात कही गयी है।** हनुमान् जब राम

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का सन्देश लेकर लंका में सीता के पास पहुँचे, तब उन्होंने दैवी भाषा संस्कृत को छोड़ मानुषी भाषा में ही सीता से बात करना उचित समझा। कालिदास (कुमार-सम्भव) के अनुसार जब सरस्वती शंकर और पार्वती के विवाह के अवसर पर उनका अभिनन्दन करने आयीं, तब उन्होंने दो प्रकार की वाणी का प्रयोग किया। वर के साथ उन्होंने संस्कार-युक्त (संस्कृत) और वधू से सुख-बोध (प्राकृत) में वचनालाप किया। भरतादि नाट्य तथा काव्य व अलंकार शास्त्रों के रचयिताओं ने तो विधिवत् दोनों प्रकार की भाषाओं के अपने-अपने देश-कालानुसार प्रयोग के नियम स्थापित किये हैं।

रामायण में जिसे 'अपभाषित' कहा गया है, उसे भरत ने विभ्रष्ट तथा भाष्यकार पतंजलि ने 'अपभ्रंश' कहकर यह स्पष्टीकरण दिया है कि एक संस्कृत शब्द के अनेक अपभ्रंश रूप होते हैं; जैसे—गौ के गावी, गोणी गीता आदि। पाणिनि का संस्कृत व्याकरण प्राचीन और सुप्रसिद्ध है। उनके 'भूवादयो धातवः' सूत्रकर उनके प्राचीनतम वार्तिककार कात्यायन ने कहा है कि यह 'आणपयति' आदि धातुओं की निवृत्ति के लिए सूत्र बनाया गया है। पतंजलि ने 'आणपयति' के साथ 'वट्टति' और 'वड्ढति' धातुओं के अतिरिक्त कष् के लिए कस् व दृश् के लिए दिस का उल्लेख किया है और शिष्ट-प्रयोग में उनसे बचने का निर्देश दिया है। तात्पर्य यह कि उक्त दोनों महर्षियों—कात्यायन और पतंजलि के मतानुसार पाणिनि से भी पूर्व 'आणपयति' से प्रारम्भ होने वाला कोई प्राकृत या अपभ्रंश धातुपाठ था; जिसके स्थान पर पाणिनि ने भूवादि धातुपाठ का विधान कर शिष्ट प्रयोग की प्रणाली को बल दिया।

विद्वानों ने 'ऋग्वेद' में ऐसे अनेक शब्दों का पता लगाया है, जो संस्कृत ढाँचे के नहीं है और जो उस समय की जन-बोली से ग्रहण किये गये प्रतीत होते हैं। यास्क ने ऐसे शब्दों की निरुक्तियाँ प्राकृत के आश्रय से ही समझायी हैं (कीथ : संस्कृत साहित्य XXV)।

'दण्डी' ने अपने 'काव्यादर्श' में स्पष्ट कर दिया है कि उनके समय तक शास्त्रों अर्थात् व्याकरण शास्त्रों में संस्कृत के अतिरिक्त सभी प्रयोगों को 'अपभ्रंश' कहा जाता था। किन्तु दूसरी ओर उन्होंने तथा भामह ने वाङ्मय में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश इन तीनों भाषाओं को समान स्थान दिया है। और यह भी कह दिया है कि आभीर आदि जन-जातियों को भाषा अपभ्रंश कही जाती थी। और उसमें काव्य-रचना भी खूब होती थी।

आभीरों का उल्लेख मालव, यौधेय आदि के साथ समुद्रगुप्त (4थी शती) की इलाहाबाद स्तम्भ-प्रशस्ति में आया है और वहाँ इन सभी को गुप्त सम्राट् के अधीन घोषित किया गया है। आभीरों के अनेक शिलालेख भी मिले हैं, जिनसे वे पश्चिम भारत में शक महाक्षत्रपों के अधीन प्रतीत होते हैं। एक आभीर नरेश ईश्वरदत्त के चाँदी के सिक्के भी मिले हैं, जिन पर उसकी महाक्षत्रप उपाधि अंकित है और वे द्वितीय-तृतीय शती के अनुमान किये जाते हैं। आभीर शिवदक्ष के पुत्र राजा ईश्वरसेन का एक शिलालेख नासिक से मिला

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है, जिसमें वहाँ रहने वाले भिक्षुओं के औषधि-उपचार हेतु दान का उल्लेख है। यह भी अनुमान लगाया जाता है कि सन् 248-249 से प्रारम्भ होनेवाला कलचुरी संवत् वस्तुत: इसी आभीर नरेश के राज्यारोहण से प्रारम्भ हुआ था। सम्भवत: आभीर ईरान के निवासी थे तथा हिरात और कन्धार के बीच जो 'आवीरवन' नामक क्षेत्र है, वह उनका मूल निवास रहा होगा। वे शकों के साथ व आगे-पीछे भारत में आये, और उन्होंने पंजाब में अपना आधिपत्य जमाया। भरतकृत 'नाट्यशास्त्र' में आभीर जाति का उल्लेख और उनकी वाणी को एक विभाषा माना है। वहीं यह भी कहा गया है कि हिमवान् पर्वत से लेकर सिन्धु सौवीर तक जो जन-जातियाँ निवास करती हैं, वे उकार-बहुल भाषा का प्रयोग करती हैं। स्पष्टत: यह भाषा पुरानी अपभ्रंश ही हो सकती है। जिस प्रदेश को आज हरियाणा कहा जाता है, उसका शुद्ध प्राचीन नामक "आभीरकानाम्" है। वहीं से वे शक-साम्राज्य के विस्तार के साथ दक्षिण और पूर्व की ओर फैले। मध्यप्रदेश में विदिशा और झाँसी के बीच का 'अहीरवार' तथा प्रदेश भर में फैली हुई अहीर जाति आभीरों के प्रभाव को व्यक्त करते हैं। इनका आधुनिक व्यवसाय प्रधानत: पशुपालन और कृषि है। उनकी अपनी विशिष्ट गीत और नृत्य की परम्परा भी है। आश्चर्य नहीं जो ये आभीर ईरान की पुरानी गीत-नृत्य की प्रणाली लेकर आये हों। उसका प्रभाव अपभ्रंश काव्य-शैली पर पड़ा है। तुकबन्दी फारसी की एक पुरानी विशेषता है, जो संस्कृत के पादान्त यमक से मिलती-जुलती होते हुए भी अपनी विशेषता रखती है। उसकी पुरानी काव्य-रचना का टकसाली छन्द अब रूबाई कहलाता है, जिसका प्राचीन नाम दुर्बेती है। उससे दुगुना चार पदोंवाला छन्द चहारवैती है। ये स्पष्टत: द्विपदी और चतुष्पदी अर्थात् दुवई या दोहा और चौपइया या चौपाई जिनका अपभ्रंश काव्यमें बाहुल्य है, के पूर्वगामी व कुछ अंश में जन्मदाता रहे हों और वह शैली आभीरों के द्वारा लायी गयी हो, तो आश्चर्य नहीं। इसी कारण तो दण्डी को अपभ्रंश काव्य आभीरों की वाणीमय अथवा उससे प्रभावित प्रतीत हुआ। हरियाणा में अपभ्रंश-रचना की परम्परा प्राचीन काल से प्रचलित रही प्रतीत होती है। वहाँ के सबसे अधिक प्रसिद्ध कवि श्रीधर 12वीं शती में अनंगपाल नरेश के राज्यकाल में हुए और उनकी छह रचनाओं का अब तक पता चल गया है—चन्द्रप्रभचरिउ, शान्तिनाथचरिउ, पार्श्वनाथचरिउ, महावीरचरिउ, सुकुमालचरिउ और भविसयत्तकहा।

इस प्रसंग में यह भी ध्यान देने योग्य है कि अपभ्रंश भाषा का विशिष्ट रूप वहीं निखरकर हमारे सम्मुख आता है, जहाँ दुवई तथा उसके रूपान्तर ध्रुवक व घत्ता और टकसाली चौपइया व उसके रूपान्तर सोलह मात्रिक चरणों वाले पज्झटिका, अडिल्ला आदि छन्दों का प्रयोग किया गया है। यही शैली हिन्दी में आदिकाल के सूफी कवियों जायसी आदि की रचनाओं में दोहा-चौपाई के रूप में विकसित हुई पायी जाती है और इनकी प्रेरणा में ईरानी-फारसी कविता का प्रभाव स्पष्ट ही है। जहाँ अन्य छन्दों का उपयोग हुआ है; उदाहरणार्थ प्रस्तुत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रचना में 1—10, 15, 16 आदि वहाँ प्राकृत की पद-रचना-प्रवृत्ति प्रधान है।

इसी सन्दर्भ में यह भी विचारणीय है कि अपभ्रंश को मागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि के समान प्राकृत की ही एक धारा माना जाये या उससे पृथक्। ऊपर दो अति प्राचीन काव्य-शास्त्रकार भामह और दण्डी का मत दिया ही जा चुका है। वे संस्कृत और प्राकृत के समान अपभ्रंश को एक स्वतन्त्र ही वाङ्मय स्वीकार करते हैं। वलभी (आधुनिक वाला सौराष्ट्र) के 'मैत्रिक' वंशी नरेश धरसेन द्वितीय के एक दानपत्र में उनके पिता गुहसेन (सन् 556-567 ई.) को संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश इन तीनों भाषाओं की प्रबन्ध रचना में निपुण कहा गया है। इसका कारण भी स्पष्ट है कि अपभ्रंश की पदरचना और काव्य-शैली प्राकृत-परम्परा से भिन्न है। दण्डी के समय में उसकी भिन्नता और भी अधिक रही होगी। त्रिभुवन 'स्वयंभू' ने स्पष्ट ही कहा है कि—

तावच्चिय सच्छन्दो भमइ अवब्भंस-मत्त-मायंगो।
जाव ण सयंभु-वायरण-अंकुसो पडइ।।

अर्थात् जब तक स्वयम्भू का व्याकरणरूपी अंकुश नहीं लगाया गया, तब तक अपभ्रंशरूपी मत्त-मातंग स्वच्छन्द भ्रमण करता रहा। दुर्भाग्यत: हमें स्वयम्भूकृत उक्त व्याकरण उपलब्ध नहीं हुआ। किन्तु उनकी विशाल रचनाएँ पउम-चरिउ और रिट्ठ-णेमि-चरिउ (हरिवंश पुराण) उपलब्ध हैं, जिनसे उनके द्वारा तथा उनके उल्लिखित पूर्ववर्ती चउमुख कवि द्वारा निखारा गया अपभ्रंश का परिनिष्ठित रूप हमारे सम्मुख है। पीछे के प्राकृत वैयाकरणों, जैसे हेमचन्द्र आदि ने अपभ्रंश का प्रतिपादन अन्य प्राकृतों के साथ-साथ ही किया है और इस कारण उसे भी एक प्राकृत मान लिया गया है'। किन्तु भाषा-विज्ञान की दृष्टि से तो जैसे वैदिक और संस्कृत 'प्राचीन आर्यभाषा' मानी गयी हैं; वैसे ही पालि, प्राकृत और अपभ्रंश 'मध्य आर्यभाषा' के नाम से उल्लिखित की गयी है ! हाँ काल की दृष्टि से उसके भी तीन भेद किये गये हैं: पूर्व, मध्य, उत्तर। इनमें अपभ्रंश अपने विकास के अनुसार उत्तरकालीन (500 से 1000 ई० मध्य) आर्यभाषा मानी जाती है।

जैसे प्राकृत में अपभ्रंश को उसका अन्तिम स्तर माना जाता है; वैसे ही हिन्दी, गुजराती, मराठी व बंगाली आदि में अपभ्रंश को उनका आदिम स्तर स्वीकार किया जाता है और उक्त भाषा व साहित्य के इतिहास में उसे प्रथम स्थान दिया जाता है। कितने ही शोध-छात्रों ने अपभ्रंश से आधुनिक भाषाओं के विकास का अध्ययन भी किया है, तथापि प्रत्येक आधुनिक भाषा के उद्गम और विकास में अपभ्रंश भाषा और साहित्य के प्रभाव का पूरा-पूरा मूल्यांकन करने का अभी भी बहुत अवकाश है। मध्य आर्य से नवीन आर्यभाषा का प्रधान भेद है उनके 'विभक्ति-परक होने न होने का।' वैदिक व संस्कृत विभक्ति-प्रधान भाषाएँ हैं। उनकी वाक्य-रचना में कोई पद ऐसा नहीं स्वीकार किया जाता; जिसमें यदि वह संज्ञा है, तो लिंग, वचन व कारक-सूचक; और यदि क्रिया है, तो काल-भाव पुरुष

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व वचन-सूचक विभक्ति न जुड़ी हो। जिन अव्यय आदि पदों में विभक्ति नहीं दिखाई देती, उनमें भी नियामकता की दृष्टि से विभक्ति का लोप मान लिया जाता है। यह विभक्तियों का बाहुल्य और अनिवार्यत्व मध्यकालीन प्राकृतों में बहुत कम और शिथिल हो गया एवं अपभ्रंश में उस नियम के टूटने के चिह्न दिखाई देने लगे। हिन्दी आदि आधुनिक भाषाएँ निर्विभक्तिक हो गयीं और कारक-विभक्तियों के स्थान पर **परसर्गों** का विकास हुआ। ये विभक्तियाँ कैसे लुप्त हुईं, यह एक उदाहरण से ही भलीभाँति समझा जा सकता है। 'नरः' में र का विसर्ग कितना प्रबल है? प्राकृत में उसका सन्धि-रूप 'नरो' रह गया। यहाँ ओ में वह वजन नहीं, जो **विसर्ग** में था। और जो था, वह भी क्रमशः कम होते-होते अपभ्रंश में उ रह गया। इसप्रकार 'नरः' में र का विसर्ग कितना प्रबल है? प्राकृत में उसका सन्धि-रूप 'नरो' रह गया। इसप्रकार **'रामः गतः वनम्'** (सं०) से **राम गओ वणं** (प्रा०) बनकर अपभ्रंश में **'रामु गयउ वणु'** और हिन्दी में **'राम गया वन'** रह गया। इसप्रकार वाक्य-रचना का विभक्ति-प्रधान रूप लुप्त होकर भाषा निर्विभक्तिक बन गयी।

सम्बन्ध कारक के स्थान पर हिन्दी में **जो केर, केरी के-की अथवा तणा-तणो-तणी** जैसे परसर्ग प्रकट हुए; उनका श्रीगणेश अपभ्रंश में दिखाई देने लगा था। जैसे प्रस्तुत ग्रन्थ में:—

तहो रायहो केरी वइरिमारि (1, 9, 2)
जिणणाहहो केरी परम-सिक्ख (2, 13, 18)
कहो तणिय पुहवि कहो तणिउ रज्जु (2, 13, 19) आदि

इसीप्रकार 'अधिकरण' कारक के स्थान पर वे उसके साथ-साथ 'मज्झि' और 'उप्परि' का प्रयोग हुआ है, जिन्होंने हिन्दी के 'में' और 'पर' को जन्म दिया। जैसे:—

सह-मज्झि परिट्ठिउ णं उविंदु (1, 9, 2)
को णेच्छइ घय पय-मज्झि सारु (1, 25, 22)
तुहुँ महु उप्परि साणंद-भाउ (1, 6, 27) आदि

सर्वनामों में 'हउँ' और 'तहुँ' (हूं और तूं) अम्हइं-तुम्हइँ (हम-तुम) मेरी-तेरी महारी-तुहारी (हमारी-तुम्हारी), जहँ-तहँ-कहँ (जहाँ-तहाँ-कहाँ) जैसे रूप सर्वत्र दिखाई पड़ते हैं। उसीप्रकार मेल्लिउ (1, 6, 21) घल्लिउ (3, 14, 6) छिवइ (1, 3, 17) खुदिवि (1, 5, 12) झंपिवि (1, 6, 4) चक्खइ (3, 23, 6) आदि क्रियाएँ हिन्दी में खूब प्रचलित हुईं। मराठी की दृष्टि से घे घे (2, 34, 7) दक्खालिवि (1, 21, 10) वइसाइवि (1, 6, 24) आदि क्रियाएँ हमारा ध्यान आकर्षित करती हैं। शब्दावलि में भी देशी-प्रयोग-प्रचुर है। थाल, कच्चोल, रसोई, चुपड़े माड़े, लड्डू, जीमन उसकी महमहक (2, 23-24) से किस हिन्दी पाठक की जीभ में पानी न आ जायगा? अपभ्रंश काव्यों में तत्सम, तद्भव व देशी शब्दावलि के प्रचुर प्रयोग के साथ-साथ प्रायः सभी आधुनिक आर्य भाषाओं के उद्गम-सूचक पदों और मुहावरों का बाहुल्य पाया जाता है।

('जसहरचरिउ' की प्रस्तावना से साभार) ❖❖

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"श्रमण संस्कृति एवं वैदिक संस्कृति की पारस्परिक गुणग्राहकता"

—प्रवीण कुमार जैन

भारतवर्ष में श्रमण संस्कृति एवं वैदिक संस्कृति में विभिन्न क्षेत्रों में घनिष्ठ सम्बन्ध चिरकाल से बने हुये है। वैचारिक भावभूमि एवं प्रयोगविधि में स्वतन्त्र पृष्ठभूमि होते हुये भी इनका पारस्परिक सहयोग एवं सौहार्द भारतीय सांस्कृतिक इतिहास का गौरवशाली अध्याय है। ये दो बहिनों की तरह रहीं, जो बालसुलभ ढंग से अपने भगिनीत्व के प्रेमवश साथ खायी-खेलीं भी और लड़ी-झगड़ी भी; किन्तु दोनों कार्यविधियों में इनका भगिनीत्व (सभी बहिनों का रिश्ता) कभी खंडित नहीं हुआ। और इसका मूल आधार यदि कोई था, तो वह था 'गुणग्रहण की उदात्त भावना'; जो कि इन दोनों की जननी भारतीय संस्कृति का प्राणतत्त्व रही है। इसीकारण मतभेदों की अभिव्यक्ति के बाद भी 'मनभेद' की स्थिति इनमें कभी निर्मित नहीं हो सकी; और इसी कारण मतभेदों को भुलाकर गुणग्रहण के मुद्‌दे पर ये दोनों हमेशा एकमत सिद्ध हुईं हैं।

इसी परिप्रेक्ष्य में एक-दो बिन्दु यहाँ प्रस्तुत करना चाहता हूँ, जो कि श्रमण संस्कृति के ध्वजवाहकों ने उदारमन से वैदिक साहित्य से वैचारिक उपादान के रूप में ग्रहण किये हैं—

वैदिक साहित्य के प्रमुख वेद 'यजुर्वेद' (31/18) तथा -'श्वेताश्वतरोपनिषद्' (3/8) में एक पद्य आता है—

"ॐ वेदाहमेतं पुरुषं महान्त-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।।"

अर्थः—उस आदित्यस्वरूप प्रकाशमान (पूर्णज्ञानवान्) परमात्मा को मैं जानता हूँ। यतः उसी के साक्षात्कार से मनुष्य को मुक्ति प्राप्त होती है; अतः इसके अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा उपाय (मार्ग) नहीं है।

इसका भाष्य करते हुये लिखा गया है—

"किं विदित्वा त्वं ज्ञानी भवसीति प्रश्ने उत्तरमाह – अहं महान्तं सर्वातिशायिनम् आदित्यवर्णं निरुपमेयमपि कथंचित् सम्भाव्यग्राह्यप्रतीकेनादित्यमण्डलेन विदितस्वरूपं तमसः परस्ताद् विद्यमानमज्ञानाविद्यादिमतिकल्मषविरहितं नित्यमेव पारेतमः तिष्ठन्तं सत्प्रकाशभास्वरं चिन्मयज्योतिः प्रतिष्ठानमेतं स्वात्मनि विराजमानं पुरुषं परमात्मानं वेद वेद्‌म जानामि, अतोऽहं वस्तुतो ज्ञानवानस्मि। 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' इति हि प्राचीनमार्षं वचः। यावत्पौद्‌गल्कि जडकायात्मकासक्तिः तमः स्वरूपपरिच्छिन्ना आत्मन आदित्यवर्णं तिरयति-प्रच्छादयति। भिन्नोऽहं तमो-मलीमसेन जडविग्रहेणेति तात्त्विकज्ञानविमर्शं भेदात्मकं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नाधिकरोति जीवात्मा, तावत्प्रतिक्षणं प्रतिभवं च भूयोभूयो मृत्युस्तमास्कन्दति। अत: श्रुति: भगवती परामृशति–'तमेव निष्कलं निरुपाधि-स्वात्मब्रह्म ध्यायन्, विन्दन्, जानानश्च अतिमृत्युमेति-मृत्यो: साम्राज्याद् बलीयसो विमुक्तो भवति। अयनाय-निरुपमसुखात्मके शिववर्त्मनि प्रयाणाय अन्य: (ज्ञानविकल:) पन्था नास्ति न विद्यते।"

अर्थ:—'क्या जानकर तुम ज्ञानी हो सकते हो?' —इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि 'मैं महान् सर्वातिशायी आदित्यवर्ण निरुपमेय होकर भी जिसका कथंचित् ग्रहण संभव है, ऐसे आदित्य मण्डल के द्वारा ज्ञातस्वरूप वाले, 'तमस: परस्ताद्' अर्थात् विद्यमान अज्ञान और अविद्यारूपी अतिकलुषता से विरहित होकर जो नित्य ही अन्धकार के पार विराजमान है, ऐसे सम्यक् प्रकाश से भास्वर चैतन्यज्योति के प्रतिष्ठान निंजात्मा में विराजमान 'पुरुष' अर्थात् परमात्मा को 'वेद' अर्थात् जानता हूँ; इसीलिए मैं वस्तुत: ज्ञानवान् हूँ। 'सम्यक् ज्ञान के बिना मोक्ष-प्राप्ति संभव नहीं है' —ऐसा प्राचीन ऋषियों का वचन है। जब तक पौद्गलिक जड़ शरीर में आत्मिक आसक्तिरूपी अंधकार आदित्यवर्णी आत्मा को आवृत्त किये हुये है/ढँके हुये है। (और जब तक) इस अज्ञानरूपी अंधकार की मलिनता से, जड़ शरीर से मैं भिन्न तत्त्व हूँ — ऐसा तात्त्विक ज्ञान का भेदविज्ञानात्मक विमर्श जीवात्मा ग्रहण नहीं करता है, तब तक प्रतिक्षण और प्रतिभव में बारम्बार मृत्युरूपी अन्धकार को प्राप्त करता है। अत: शास्त्र परामर्श देते हैं—कि 'उसी निष्कल, निरुपाधि स्वात्मारूपी ब्रह्म का ध्यान करते हुये, अनुभव करते हुये, जानते हुये (यह जीव) मृत्यु के पार को प्राप्त करता है, मृत्यु के साम्राज्य से बलवान् होकर विमुक्त हो जाता है। 'अयनाय' अर्थात् निरुपम-सुखात्मक मोक्षमार्ग में अग्रसर होने का अन्य कोई मार्ग न है और न ही संभव है।'

लगभग इन्हीं शब्दों को जैन आध्यात्मिक अभिप्राय के साथ पिरोकर आचार्य मानतुंग स्वामी ने 'भक्तारस्तोत्र' के 23वें पद्य में भगवान् आदिनाथ की स्तुति की है

"त्वामामनन्ति मुनय: परमं पुमांस-
मादित्यवर्णममलं तमस: परस्तात्।
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युं,
नान्य: शिव: शिवपदस्य मुनीन्द्र ! पन्था।।"

अर्थ:—हे भगवन् ! आपको मुनिगण परमपुरुष, आदित्यवर्णवाले, निर्मल एवं अन्धकार से पार को प्राप्त मानते हैं। वे आपको भली-भाँति प्राप्त करके (जान करके) मृत्यु को जीतते हैं। हे मुनीन्द्र ! इसके अतिरिक्त मोक्ष या मोक्षपद का कोई अन्य मार्ग नहीं है।

ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य मानतुंग को वैदिक साहित्य का पर्याप्त ज्ञान ही नहीं था, अपितु उसमें निहित आध्यात्मिक भावों का उनके मन पर अच्छा प्रभाव भी था; अत: उसके शब्दों एवं शैली का प्रयोगकर उसी के एक पद्य को किंचित् परिवर्तन के साथ उन्होंने 'भक्तामर स्तोत्र' जैसे कालजयी 'स्तुति-काव्यग्रंथ' में गुंफित कर दिया है। यह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कार्य भारतीय सांस्कृतिक परम्परा की गुणग्रहण की उदात्त भावना के अनुरूप ही हुआ है।

जैन संस्कृति में भी आचार्य कुन्दकुन्द आदि महान् आचार्यों ने भी अपनी मूलविचारधारा को छोड़े बिना अन्य संस्कृतियों के उदात्त तत्त्वों को अपनाया है, उनका उदारभाव से उल्लेख किया है; अन्यथा कुन्दकुन्द आचार्य यह गाथा कदापि नहीं लिखते—

"णाणी-सिव-परमेट्ठी, सव्वण्हू-विण्हु चदुमुहो बुद्धो।
अप्पा वि य परमप्पो कम्मविमुक्को य होदि फुडं।।"

अर्थ:—ज्ञानी, शिव, परमेष्ठी, सर्वज्ञ, विष्णु, चतुर्मुख (ब्रह्मा), बुद्ध, आत्मा और परमात्मा – कुछ भी नाम से कहें; किन्तु वह कर्म से रहित अवश्य ही होता है।

आचार्य अमितगति ने भी 'भावना द्वात्रिंशिका' (सामायिक पाठ) में कहा है कि—

"यो स्मर्यते सर्वमुनीन्द्रवृन्दैः, यो स्तूयते सर्वनरामरेन्द्रैः।
यो गीयते वेद-पुराण-शास्त्रैः, स देवदेवो हृदये ममास्ताम्।।"

अर्थ:—जिसका समस्त मुनीन्द्रगण स्मरण करते हैं; जिसकी समस्त नरेन्द्र एवं देवेन्द्रगण स्तुति करते हैं; समस्त वेदों, पुराणों और शास्त्रों में जिसकी महिमा गायी गयी है; वह देवाधिदेव मेरे हृदय में सदा विराजमान रहे।

पारस्परिक वैमनस्य एवं मनोमालिन्य को मिटाकर हमें अपने आचार्यों एवं महापुरुषों के गुणग्रहण के संस्कार को आत्मसात् करना है और इस परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखना है; अन्यथा हम अपनी संस्कृति एवं साहित्य की गौरव-गरिमा को, अपने पूर्वजों की व्यापक एवं उदार दृष्टि को कभी नहीं समझ सकेंगे। 'कूपमण्डूक' बने रहने की कुंठित मनोवृत्ति से चिन्तन के मुक्त-गगन में निर्द्वन्द्व विचरण करना निश्चय ही हमारी दृष्टि को नये आयाम और नये क्षितिज प्रदान करेगा।

❖❖

कामं द्विषन्नप्युपपत्तिचक्षुः समीक्षतां ते समदृष्टिरिष्टम्।
त्वयि ध्रुवं खण्डित मान-शृंगो भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः।।

—आचार्य समन्तभद्र, युक्त्यानुशासन, 63

अर्थ:—हे भगवन्! जिनेन्द्र! जो समदृष्टि है तथा युक्तिपूर्वक देखता है; वह जिनागम के प्रति यथेष्ट विरोध भाव रखकर भी रखता हुआ भी भले, आपकी (आप्तवाणी की) समीक्षा करे। मेरा विश्वास है कि वह तुम्हारे श्रुतपरिशीलन में अविरोध को प्राप्त होगा अर्थात् जिनागम परिज्ञान से उसका मान गलित हो जाएगा और इसप्रकार उसे सम्यग्दृष्टि प्राप्त होगी, वह अभद्र होता हुआ भी सर्वतः भद्र हो उठेगा।

प्रकारान्तर से आचार्य ने अपने को अभद्र कहते हुए जिनवाणी की कृपा से ही मैं 'समन्तभद्र' हूँ, –ऐसा कहा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गन्धोदक : स्वरूप एवं महत्त्व

—कु० आरती जैन, छिन्दवाड़ा (म०प्र०)

'गन्धोदक' शब्द का सामान्यत: अर्थ होता है 'सुगन्धित जल'; किन्तु जैन-परम्परा में यह शब्द एक विशिष्ट पारिभाषिक शब्द के रूप में प्रयुक्त हुआ है, जिसके अनुसार इसके सामान्य अर्थ का अभिप्राय सुरक्षित रखते हुये भी उसमें विशेष अर्थगौरव किया गया है तथा 'भगवान् के अभिषेक से पावन एवं सुगन्धित जल' के रूप में इसे जाना जाता है। इसके भी दो अलग-अलग सन्दर्भ हैं, एक तो बाल तीर्थंकर के जन्माभिषेक के जल को भी 'गन्धोदक' कहा गया है; और दूसरे सन्दर्भ में जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमा की दैनिक 'शुद्धि' या 'प्रक्षालन' के लिये जो जल प्रयोग होता है, जिनेन्द्र प्रतिमा के संस्पर्श से पावन हुये उस जल को भी 'गन्धोदक' संज्ञा प्रयुक्त हुई है।

यहाँ एक **जिज्ञासा** संभव है कि तीर्थंकर के समवशरण-निर्माण एवं विहार आदि के अवसरों पर देवगण जिस 'गन्धोदक' की वृष्टि करते हैं, तथा जिसे तीर्थंकरों के अतिशयों में परिगणित किया गया है; वह 'गन्धोदक' उपर्युक्त दोनों सन्दर्भों में से कौन-सा होता है? इसका **समाधान** यह है कि वह इन दोनों से भिन्न सामान्य अर्थवाला 'दिव्य सुगन्धित जल' ही होता है; क्योंकि जिनेन्द्र परमात्मा के अभिषेक के गन्धोदक को इतस्तत: बिखेरने के रूप में प्रयोग नहीं किया जाता है। जबकि तीर्थंकर के अतिशयों में परिगणित 'गन्धोदक' की तो देवगण पर्यावरण-शुद्धि की दृष्टि से वृष्टि करते हैं। कहा भी गया है— **"गन्धोदबिन्दु-शुभमन्दमरुत्प्रपाता... ।"**[1]

जिनेन्द्र भगवान् के अभिषेक यां प्रक्षाल स निर्मित 'गन्धोदक' की महिमा जैन-वाङ्मय में व्यापक रूप से गायी गयी है। कतिपय स्थल द्रष्टव्य हैं—

(i) भगवज्जिनसेनाचार्य 'महापुराण' में लिखते हैं—

"माननीया मुनीन्द्राणां जगतामेकपावनी।
साव्याद् गन्धाम्बुधारास्मान् या स्म व्योमापगायते।।"[2]

अर्थ:—जो मुनीन्द्रों के लिये भी आदरणीय है तथा जो संसार को पवित्रता-प्रदान करने में अनुपम है' —ऐसी आकाशगंगा के समान प्रतीत होनेवाली गन्धाम्बुधारा (गंधोदक) हमारी रक्षा करे।

(ii) प्राकृत-साहित्य में भी 'गन्धोदक' का महिमागान करते हुये लिखा है—

"जिणचरण-कमलगंधोएण तणु सिंचिवि कलि-मलु हणिउ जेण।
संसार महावय-णासणाइं पविहियइं जेण सहु-भावणाइं।।"

अर्थ:—जिनेन्द्र भगवान् के चरणकमलों के गन्धोदक से जिसने अपने शरीर (शरीर के उत्तमांगों) को संस्पर्शित किया है, उसने कलिमल का नाश दिया है और संसाररूपी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महाव्याधि को नष्ट कर अपने हृदय में पवित्र भावनाओं को प्राप्त कर लिया है।

(iii) 'प्रतिष्ठातिलक' में गन्धोदक की महिमा निम्नानुसार बतायी गयी है—

"घातिव्रात-विघात-जात-विपुलश्री-केवलज्योतिषो।
देवस्यास्य पवित्रगात्रकलनात्पूतं हितं मंगलम्।।
कुर्याद्भव्य भवार्ति-दाव-शमनं स्वमोक्षलक्ष्मीफलम्।
प्रोद्यद्धर्म-लताभिवर्धनमिदं सद्गंध-गंधोदकम्।।"[3]

अर्थः—घातिकर्म-समूह को नष्ट करने से समुत्पन्न अनन्त चतुष्टय एवं केवलज्ञानरूपी ज्योतिवाले वीतरागी जिनेन्द्रदेव के पवित्र शरीर के स्पर्श से पावन यह हितकारी एवं मंगलरूप 'गन्धोदक' का जल भव्य जीवों के संसाररूपी दुःखों की दावाग्नि को शान्त करे, मुझे (ग्रंथ-लेखक अथवा गन्धोदक लगाने वाले को) मोक्षलक्ष्मीरूपी फल को प्रदान करे तथा सद्गंध से सुवासित यह जल धर्मरूपी लता की अभिवृद्धि करे।

(iv) 'शान्तिपाठ' में भी गन्धोदक-वंदन का फल बताते हुये लिखा है—

"मुक्तिश्री-वनिता-करोदकमिदं पुण्यांकरोत्पादकम्।
नागेन्द्र-त्रिदिशेन्द्र-चक्रपदवी-राज्याभिषेकोदकम्।।
सम्यग्ज्ञान-चरित्र-दर्शनलता-संवृद्धि-सम्पादकम्।
कीर्ति-श्री-जयसाधकं तव जिन! स्नानस्य गन्धोदकम्।।"[4]

अर्थः—हे जिनेन्द्र देव! आपके अभिषेक का गन्धोदक भव्य जीवों को साक्षात् मोक्ष-लक्ष्मीरूपी स्त्री के हाथों से गृहीत जल प्रतीत होता है, पुण्यभावरूपी अंकुर को उत्पन्न करता है, नागेन्द्र-त्रिदिशेन्द्र-चक्रवर्ती आदि पदों पर राज्याभिषेक करानेवाला है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक रत्नत्रयरूपी लता की संवृद्धि कराता है तथा कीर्ति-समृद्धि एवं विजय का साधक है।

(v) अन्यत्र भी इसकी महिमा लगभग पूर्वोक्त प्रकार से बतायी गयी है—

"कीर्ति-क्षेमकरं महाबलकरं स्वारोग्यवृद्धिकरम्।
दीर्घायुष्यकरं सदासुखकरं भूपेन्द्रसंपत्करम्।।
विश्वव्याधिहरं विषज्वरहरं निर्वाणलक्ष्मीकरम्।
सर्वं कर्महरं वरं तव जिन! स्नानस्य गन्धोदकम्।।"[5]

अर्थः—हे जिनेन्द्र भगवन्! आपके अभिषेक से निर्मित गन्धोदक वन्दन करनेवाले भव्य जीव को कीर्ति एवं सकुशलता को करनेवाला, उत्कृष्ट बल-प्रदाता, आरोग्य की वृद्धि-कर्त्ता दीर्घायु करनेवाला, सदासुख देनेवाला, चक्रवर्ती की सम्पत्ति-प्रदाता, विश्वभर की व्याधियों का निवारक, विषज्वर दूर करनेवाला, मोक्षरूपी लक्ष्मी का समागम करानेवाला तथा समस्त कर्मों को नष्ट करनेवाला उत्कृष्ट जल है।

गन्धोदक-प्रदान करते समय निम्नलिखित पद्य बोला जाता है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"यत्प्रसादाद्धि चारित्र-रत्नसाध्यमुच्यते।
भूतो-भवन्तो भव्याश्च प्रणम्य गुरुपादयोः।।"[6]

अर्थः—जिनकी कृपा के प्रसाद से चरित्ररूपी रत्न की प्राप्ति सरलता से हो जाती है, तथा जिन त्रिलोकगुरू (जिनेन्द्र परमात्मा) के चरणों के प्रणाम करके तीनों कालों में चारित्र पालन करनेवाले साधना में प्रवृत्त हुये, हैं और होंगे – उन्हीं भगवान् जिनेन्द्र का यह गन्धोदक है।

गन्धोदक कहाँ लगाना?

यह एक अत्यन्त विवेकपूर्वक विचारणीय प्रश्न है। क्योंकि आजकल तो लोग गन्धोदक को सारे शरीर पर तेल-मालिश की तरह प्रयोग करने लगे हैं; जबकि यह इसकी स्पष्टतः अविनय है। आचार्यों ने गन्धोदक को लगाने के लिये शरीर के तीन ही स्थान निर्धारित किये हैं—

1. मस्तक, 2. ललाट और 3. नेत्रयुगल।

इसके बारे में स्पष्ट निर्देश करते हुये आचार्य वासुपूज्य लिखते हैं—

"गंधांभः सुममर्हदंघ्रि-युग-संस्पर्शात्पवित्रीकृतम्।
देवेन्द्रादि-शिरो-ललाट-नयनान्यासोचितं मंगलम्।।
तेषां स्पर्शनतस्त एव सकलाः पूताः अभोगोचितम्।
भाले नेत्रयुगे च मूर्ध्नि तथा सर्वैर्जनैर्धार्यताम्।।"[7]

अर्थः—भगवान् के चरणों चढ़ाया हुआ जल अरिहन्त भगवान् के पावन चरणों के स्पर्श से पवित्र हो जाता है; अतएव वह देवेन्द्रादि के द्वारा ललाट, मस्तक, तथा नेत्रों में धारण करने योग्य है। इसके स्पर्शमात्र से ही पूर्व में अनेकों जन पवित्र हो चुके हैं; इसलिये इस गन्धोदक को भव्यजीव सदैव ललाट, नेत्रयुगल तथा मस्तक पर सदाकाल भक्तिपूर्वक धारण करें।

वे इन स्थानों में गन्धोदक को लगाने का सुफल बताते हुये लिखते हैं—

"सिद्धक्षेत्री-गतीच्छयैव निटिले गन्धोऽर्चितो लिप्यते।
दृष्टि-ज्ञान-विशुद्धयेऽर्चितजलं दृष्टिद्वये षिच्यते।।"[8]

अर्थः—मोक्षस्थान को प्राप्त अरिहन्तों के चरणों में अर्पित जल (गन्धोदक) के ललाट में इसलिये लगाया जाता है, ताकि सिद्धालय मे हमारा शीघ्रगमन हो। दोनों नेत्रयुगल (के ऊपरी भाग) में लगाने का प्रयोजन सम्यग्दर्शन की विशुद्धि की कामना है। तथा मस्तक पर लगाने का उद्देश्य निर्मल सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति की इच्छा है। —इसप्रकार आत्मतत्त्व की सिद्धि एवं रत्नत्रय की प्राप्ति की भावना से उपर्युक्त तीनों स्थानों में गन्धोदक लगाना चाहिये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गन्धोदक-वंदने की विधि

गन्धोदक को संस्पर्श करने से पूर्व अँगुलियों को शुद्ध प्रासुक जल से धो लेना चाहिये, तथा फिर 'गन्धोदक' को स्पर्श कर अपने शरीर के उपर्युक्त तीनों अंगों पर लगाना चाहिये। तदुपरान्त पुन: शुद्ध प्रासुक जल से अँगुलियाँ धो लेनी चाहिये।[9] साथ ही यह पद्य भी बोला जा सकता है—

"निर्मलं निर्मलीकरणं पावनं पापनाशम्।
श्रीजिनचरणोदकं वन्दे सर्वदोष-विनाशनम्।।"

प्राचीन परम्परा में इसके स्थान पर निम्नलिखित पद्य बोलते थे—

"नत्वा परीत्य निजनेत्र-ललाटयोश्च, व्याप्तं क्षणेन हरतादघसंचय मे।
शुद्धोदकं जिनपते ! तव पादयोगात्, भूयाद् भवातपहरं धृतमादरेण।।
इमे नेत्रे जाते सुकृतजलसिक्ते सफलिते,
ममेदं मानुष्यं कृतीजनगणादेयमभवत्।
मदीयाद् भालाद् शुकर्माटनमभूत्,
सदेदृक् पुण्यौघो मम भवतु ते पूजनविधौ।।"

अर्थ:—मैंने जिनेन्द्रदेव के 'गन्धोदक' की अपने नेत्रों एवं ललाट पर वंदना की, जिसके फलस्वरूप मेरे चिरसंचित पाप क्षणभर में दूर हो गये। हे जिनेन्द्र देव ! आपके चरणकमल से संस्पर्श से पावन गंधोदक संसाररूपी ताप को हरण करनेवाला ज़ानकर मैंने आदर से धारण किया है। आपके सुकृतरूपी जल से सिक्त होकर मेरे ये दोनों नेत्र सफल हो गये एवं मेरा मनुष्य जन्म ज्ञानीजनों के लिये गिनती योग्य हो गया। मेरे द्वारा अपने मस्तक पर आपका चरणोदक धारण करने से शुभकर्मों का आगमन हुआ तथा सत्पुण्यरूपी पुञ्ज आपकी पूजनविधि से मुझे प्राप्त हुआ।

सन्दर्भसूची

1. भक्तामरस्तोत्र, आचार्य मानतुंग।
2. महापुराण, 13/195
3. प्रतिष्ठातिलक 13/24, पृष्ठ 705
4. शान्तिपाठ
5. नेमिचन्द्रदेव, विश्वशांति मंत्र।
6. जिनेन्द्र पूजापाठ
7. दानशासन, 84, पृष्ठ 54
8. वही, 85।
9. विशेष द्रष्टव्य, जैन सुदीप द्वारा लिखित 'नमन और पूजन' चतुर्थखण्ड : 'परिशिष्ट'।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बौद्ध-परम्परा एवं निर्ग्रन्थ जैन-श्रामण्य

—डॉ० सुदीप जैन

बौद्धदर्शन का अभ्युदय ईसा-पूर्व छठवीं शताब्दी के आसपास माना जाता है; यही समय ज्ञातृपुत्र निर्ग्रंथ तीर्थंकर भगवान् वर्द्धमान महावीर का भी माना जाता है, जो कि जैन-परम्परा के चौबीसवें व अंतिम तीर्थंकर थे। इन्हें बौद्ध-साहित्य में 'निग्गंठ नातपुत्त' संज्ञा से अनेकत्र उल्लेखित किया गया है। इनके पूर्व 23 तेईस तीर्थंकर हुये, जिन्होंने निर्ग्रन्थ जैन श्रमण-परम्परा में दीक्षित होकर स्वयं तत्त्वज्ञान प्राप्त कर आत्मकल्याण किया तथा अन्य जीवों को आत्मकल्याण का सदुपदेश भी दिया; अत: धर्मतीर्थ के कर्त्ता होने से उनकी 'तीर्थंकर' संज्ञा सार्थक हुई। इस परम्परा का बौद्धग्रन्थ **'न्यायबिन्दु'** में सादर उल्लेख किया गया है—

"ऋषभो वर्द्धमानश्च तावादी यस्य स ऋषभ-वर्द्धमानादि: दिगम्बराणां शास्ता सर्वज्ञ आप्तश्च।"[1]

अर्थ:—ऋषभदेव से लेकर वर्द्धमान (महावीर स्वामी) –पर्यन्त दिगम्बरों (जैनों) के (चौबीस) अनुशास्ता (हुये हैं, जो कि) सर्वज्ञ एवं आप्त (प्रामाणिक व्यक्ति थे)।

यहाँ स्पष्ट उल्लेख है कि **न्यायबिन्दुकार** जैनों के ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त चौबीसों तीर्थंकरों को मानते थे, अर्थात् वे महावीर को ही जैनधर्म का प्रवर्तक नहीं मानते थे। साथ ही वे इन सभी को सर्वज्ञ एवं प्रामाणिक व्यक्ति भी मानते थे; अर्थात् इनका ज्ञान एवं कथन सत्य एवं प्रामाणिक है – ऐसा भी स्वीकार करते थे। यहाँ सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि उन्होंने इन चौबीसों तीर्थंकरों को एवं उनके अनुयायियों की परम्परा को 'दिगम्बर' ('दिशायें ही है वस्त्र जिनके' अर्थात् जो अन्य को वस्त्र-परिधान धारण नहीं करते हैं, नग्न ही रहते हैं) घोषित किया है। इस दिगम्बरत्व को स्पष्ट करते हुये **बौद्ध नैयायिक आचार्य उदयन** लिखते हैं–**"निरावरण इति दिगम्बर:।"**[2]

जैनश्रमणों के लिये 'क्षपणक' शब्द का भी प्रयोग मिलता है। 'क्षपणक' को सम्पूर्ण भारतीय परम्परा में 'नग्न' ही माना गया है। 'महाभारत' में उल्लेख मिलता है— **"नग्नं क्षपणकमागच्छन्तम्..."**[3] अर्थात् उन्होंने नग्न क्षपणक को आते हुये देखा। भारतीय भाषाओं के महान् अध्येता विद्वान् **रिचर्ड पिशेल** 'क्षपणक' शब्द का परिचय देते हुये लिखते हैं—**"क्षपणको जैनाकृति:"** अर्थात् 'क्षपणक' जैनों की आकृति है। इससे सिद्ध होता है कि **ईसापूर्व के इतिहास से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक जैनेतर विद्वान् जैन श्रमण-परम्परा को नग्न-दिगम्बर ही मानते थे।** यहाँ तक जैनश्रमणों के नाग्न्यव्रत का जनजीवन में इतना व्यापक प्रभाव हो गया था कि **"नग्ने क्षपणके देशे रजक: किं करिष्यति"**[4] अर्थात् नग्न क्षपणक जहाँ रह रहे हों – ऐसे प्रदेश में धोबी का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्या काम? (न ये कपड़े पहिनते हैं, तो धोने को क्या मिलेगा। और जहाँ धोने को कपड़े नहीं मिलेंगें, तो धोबी तो वहाँ भूखा ही मरेगा – अत: वह वहाँ रहेगा ही क्यों?) —ऐसी कहावतें लोक-जीवन में प्रज्वलित हो गयी थीं।

ये निर्ग्रन्थ जैनश्रमण जैनेतर-परम्परा में अपने गुणों के कारण आदर की दृष्टि से देखे गये—

"मुनीनां न्यस्तदंडानां शांतानां समचेतसाम्।
अकिंचनानां साधूनां यमाहु: परमां गतिम्।।"[5]

अर्थ:—मन-वचन-काय तीनों दंडों को संयमित करनेवाले, शांतस्वभावी, समताभावी, अकिंचन (अपरिग्रही) साधु, जिन्हें 'मुनि' कहा जाता है; की उत्कृष्ट गति होती है।

ऐसी उत्कृष्ट निर्ग्रन्थ जैनश्रमण-परम्परा का भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन काल से सद्भाव रहा है। स्वयं बौद्धदर्शन के प्रवर्तक महात्मा गौतमबुद्ध से पूर्ववर्ती काल में जैनश्रमण-परम्परा अत्यन्त विस्तृत थी; तथा इसीलिये जब उन्हें संसार से वैराग्य हुआ और वे राज-पाट घर-बार सब छोड़कर चल दिये, तो प्रथम समस्या उनके सामने थी कि वे किस सम्प्रदाय में दीक्षित हों, कौन-सी वृत्ति अंगीकार करें? किन्तु यह दुविधा उनके मन में अधिक समय तक नहीं रही और उन्होंने अपने समय की सर्वाधिक प्रतिष्ठित जैनश्रमण परम्परा के साधु पिहितास्रव से निर्ग्रन्थ जैनश्रमण-दीक्षा ग्रहण की तथा निर्ग्रन्थ जैनश्रमणचर्या का पालन करने लगे। इस बारे में बौद्धों के प्रधान ग्रन्थ 'मज्झिमनिकाय' के कथन द्रष्टव्य हैं, जिनमें बुद्ध ने दीक्षोपरान्त अपनी स्थिति का बेवाक वर्णन किया है—

"अचेलको होमि, हत्थापलेखनो, नाभिहतं न उद्दिस्सकतं न निमंतणं सादियामि, सो न कुम्भीमुखा परिगण्हामि न कलोपिमुखा परिगण्हामि, न एलकमंतरं न दण्डमंतरं न मुसलमंतरं, न दिन्नं भुंजमानानं, न गब्भनिया, न पायमानया, न पुरिसंतरगतां न संकित्तिसु न यथ सा उपट्ठितोहोति, न यथ भक्खिका संड-संड चारिनी, न मच्छं न मासं न सुरं न मरेयं न थुसोदकं पिवामि, सो एकागारिको..... एकाहं व आहारं इति एयरूपं अद्धमासिकं पि परियाय मत्तभोजनानुयोगं अनुयुतो विहरामि, केस्स-मस्सुलोचको वि होमि, केसमस्सुलोचानुयोगं अनुयुत्तो, पावउद बिंदुम्हि पिमे दया पच्च पट्ठिता होति। माहं खुद्दके पाणे विसमगते संघात आयादेस्संति।"[6]

अर्थ:—मैं (दीक्षोपरान्त) वस्त्ररहित (नग्न) रहा, मैंने अपने हाथों में आहार लिया। न लाया हुआ भोजन किया, न अपने उद्देश्य से बनाया हुआ भोजन लिया, न निमन्त्रण से घर जाकर भोजन किया, न बर्तन में खाया, न थाली में खाया, न घर की ड्यौढ़ी में खाया, न खिड़की से भोजन किया, न मूसल से कूटने के स्थान (ओखली) से लिया, न गर्भिणी स्त्री से लिया, न बच्चे को दूध पिलानेवाली स्त्री से लिया, न पुंश्चली स्त्री से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लिया। मैंने वहाँ से भी भोजन नहीं लिया, जहाँ कुत्ता पास खड़ा था या जहाँ पर मक्खियाँ भिनभिना रहीं थीं। मैंने न मछली, न मांस, न मदिरा, न सड़ा हुआ मांड खाया और न ही तुस का मैला पानी पिया। मैंने एक ही घर से भोजन लिया, सो भी (एक दिन में) एक ही बार लिया। मैंने दिन में एक ही बार भोजन किया और कभी-कभी पन्द्रह दिनों तक भोजन नहीं किया (अर्थात् पाक्षिक उपवास किया)। मैंने मस्तक, दाढ़ी व मूछों के केशलोंच किये। उस केशलोंच-क्रिया को मैंने चालू रखा। मैं एक बूँद पानी पर भी दयालु रहता था। छोटे से जीव की भी मेरे द्वारा हिंसा न हो —इस तरह मैं सतत सावधान रहता था।

वहाँ वे आगे लिखते हैं—

"सो तत्तो सो सीनो एको मिसनके वने।
नग्गो न च आगिं असीनो एकनापसुतो मुनीति।।"

अर्थ:—इस तरह कभी गर्मी, कभी ठंडक को सहता हुआ मैं भयानक वन में नग्न रहता था। मैं (ठंड दूर करने के लिये) आग से नहीं तापता था। मुनि अवस्था में एकाकी रहकर ध्यान में लीन रहता था।

ध्यातव्य है कि उपर्युक्त नग्न रहना, केशलोंच करना, एक बार दिन में खड़े-खड़े अपने हाथों में आहार लेना, आहारशुद्धि (अनुद्दिष्ट आहार, निरतिचार आहार आदि) का पालन करना, अनेकविध प्राकृतिक शीत आदि परिषहों को सहन करना —ये सब क्रियायें दिगम्बर जैनश्रमण की हैं। बुद्ध के द्वारा अपने जीवनचरित के रूप में इन सबका वर्णन करने से स्पष्ट है कि **बुद्ध सर्वप्रथम निर्ग्रन्थ दिगम्बर जैनश्रमण ही बने थे;** तथा जब उनसे यह कठोर चर्या नही निभ सकी, तो उन्होंने काषाय (गेरुये) कपड़े पहिनकर, पात्र में लोगों के घरों से भिक्षा लाकर भोजन करना प्रारंभ किया। इसप्रकार वस्त्र-पात्र आदि रखकर वे मध्यमार्गी साधुवेश में तपस्या करने लगे।

इस **मध्यमार्ग** को अपनाने का मूलकारण यही था, कि वे पुन: निकृष्ट गृहस्थ **जीवन को अपनाना नहीं चाहते थे, तथा उत्कृष्ट श्रमणचर्या उनसे निभ नहीं सकी; अत: उन्होंने 'मध्यम मार्ग' को अपनाया।** बौद्धग्रन्थ 'मज्झिम निकाय' के नामकरण में भी यही अभिप्राय निहित है।

महात्मा बुद्ध ने जैन श्रमणदीक्षा भले ही तीर्थंकर पार्श्वनाथ की परम्परा के साधु **पिहितास्रव** से ली थी, किन्तु उन्होंने अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर को भी देखा था। न केवल देखा था, अपितु वे उनसे अभिभूत भी थे; अतएव उन्हांने **'दीघनिकाय'** नामक ग्रंथ में लिखा है—

"निगंठो नातपुत्तो संघी चेव गणाचारियो च नातोयसस्सी तित्थकरो साधुसम्मतो बहुजनस्स स्रस्सू चिरपव्वजितो अद्धगतो वयो अनुप्पता।"[7]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थः—निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र (तीर्थंकर महावीर) संघ के नेता हैं, गणी हैं, गणाचार्य हैं, सर्वज्ञाता हैं, तीर्थंकर हैं, साधुजनों के द्वारा पूजनीय हैं, अनुभवशील हैं, बहुत दिनों से साधुचर्या करते हैं और **अधिक वयवाले हैं।**

महात्मा बुद्ध के इस कथन से स्पष्ट है कि **तीर्थंकर महावीर महात्मा बुद्ध से गुणों में एवं उम्र में — दोनों में ज्येष्ठ-श्रेष्ठ थे।**

'मज्झिम निकाय' में महात्मा बुद्ध तीर्थंकर महावीर के सर्वज्ञत्व की स्वीकारोक्ति की है। इसके अंग्रेजी संस्करण में लिखा है—

"Nattputta is all knowing and seeing possessing an infinite knowledge".[8]

अर्थः—ज्ञातृपुत्र (महावीर) सब कुछ जानते हैं, समस्त पदार्थों को देखते हैं; उनका ज्ञान असीम है।

—इससे स्पष्ट है कि वे महावीर को सर्वज्ञ मानते थे।

इतना ही नहीं, जैनों के महावीर-पूर्ववर्ती तेईस तीर्थंकरों के उल्लेख का अनुसरण करते हुये गौतम बुद्ध से पूर्ववर्त्ती तेईस (23) बुद्धों की भी चर्चा बौद्धग्रन्थों में आयी है।[9] जबकि यह उगे हुये सूर्य की तरह स्पष्ट है कि बौद्धधर्म के प्रवर्तक महात्मा गौतमबुद्ध ही थे।

बौद्धधर्म का जब लंका में प्रभाव बढ़ा, तथा वहाँ का राजतंत्र जब बौद्धों के प्रभाव में जैनश्रमणों पर अत्याचार करने लगा; तो निर्ग्रन्थ जैनश्रमण वहाँ से अपनी चर्या एवं परम्परा की रक्षा के लिए वहाँ से छुपकर पलायन करने लगे। ऐसे ही एक 'गिरि' नामक निर्ग्रन्थ जैनश्रमण को छुपकर जाते हुये देखकर किसी ने अन्य लोगों को दिखाया – ऐसा उल्लेख बौद्धग्रन्थ में मिलता है—

"तं दिस्वान पलायंतं निगंठो गिरिनामको।"[10]

इससे स्पष्ट है कि महात्मा बुद्ध के पूर्व भी जो पार्श्वनाथ की परम्परा के जैनश्रमण थे, वे भी निर्ग्रन्थ दिगम्बर थे और उनसे बुद्ध ने भी नग्नदिगम्बर दीक्षा ली थी। बौद्धग्रन्थों में जैनश्रमणों के सवस्त्र होने का कहीं उल्लेख नहीं है तथा निर्ग्रन्थ जैन श्रामण्य का सर्वत्र आदर के साथ ही उल्लेख मिलता है। यह तथ्य जैन श्रामण्य के मूलस्वरूप को नग्न दिगम्बर ही प्रमाणित करता है।

न केवल बौद्ध-परम्परा, अपितु आधुनिक सिखधर्म भी जैनश्रमणों की उत्कृष्ट चर्या से प्रभावित हुआ था। सिखधर्म में प्रचलित 'उदासी सम्प्रदाय' जैन श्रमणों का प्रकृष्ट प्रभाव ज्ञापित करता है। –इस बारे में आचार्य परशुराम चतुर्वेदी की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—"उदासी सम्प्रदाय के अनुयायियों को भौतिक अथवा विशेषरूप से राजनीतिक बातों से कभी कोई सम्बन्ध नहीं रहा है। उसके मूलप्रवर्तक श्रीचन्द बराबर सन्यासियों के वेश में और अधिकतर नग्न रहकर ही भ्रमण किया करते थे। उनके अनुयायियों का भी रहन-सहन सदा साधुओं की ही भाँति रहा। सांसारिक बातों से इनकी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऐसी तटस्थता देखकर गुरु गोविंदसिंह इनके प्रति कुछ रुष्ट रहा करते थे। कभी-कभी इनकी अहिंसात्मक, भोली-भाली तथा सादगीपूर्ण प्रवृत्ति के कारण इन्हें 'जैनी' तक कह दिया करते थे।"[11]

—इन समस्त प्रमाणों के आलोक में स्पष्टत: सिद्ध है कि निर्ग्रन्थ जैन श्रमण-परम्परा मूलत: नग्न दिगम्बर ही थी, तथा भारत के जैनेतर धर्मों/पन्थों/सम्प्रदायों पर नग्न दिगम्बर श्रमणों की परमपावन जीवनवृत्ति का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा।

सन्दर्भसूची

1. न्यायबिन्दु, 3/13
2. न्यायकुसुमांजलि, 1/1
3. महाभारत, आदिपर्व, 3/126
4. आप्टेकृत शब्दकोश में
5. भागवत, 10/89/17
6. महासीहनादसुत्त, 12
7. दीघनिकाय, प्रथम भाग, पृ० 48
8. Majhima Nikaya I. Page 92-93.
9. द्रष्टव्य, इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इंडिया, पृ० 54
10. बौद्ध महावंश, अध्याय 33।
11. 'उत्तरी भारत की संन्त परम्परा' पुस्तक में — 'नानक पन्थ का सिक्ख धर्म' अध्याय, पृष्ठ 424

❖❖

धर्म अमृत है

वातं विजयते ज्ञानं, दर्शनं पित्तवारणम्।
कफनाशाय चरणं, धर्मस्तेनामृतायते।।

अर्थ:—'ज्ञान' वायु का प्रकोप शांत करता है, दर्शन से पित्त का प्रकोप शांत होता है तथा 'चारित्र' कफ के प्रकोप को शांत करता है। जबकि धर्म (इन तीनों मय दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक होने से) तीनों (वात, पित्त, कफ) को ही शांत करता है। अत: धर्म अमृत-रसायन है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैनधर्म नास्तिक नहीं

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

'जैन को नास्तिक भाखै कौन ?
परम धरम जो दया अहिंसा सोई आचरत जौन।
सत कर्मन को फल नित मानत अति-विवेक के भौन।
तिनके मतहि विरुद्ध कहत जो महामूढ़ है तौन।
सब पहुँचत एकहि थल चाहौ करौ जौन पथ गौन।
इन आँखिन-सौं तो सबही थल सूझत गोपी-रौन।
कौन ठाम जहं प्यारो नाहीं भूमि-अनल-जल-पौन।
'हरीचंद' ए मतवारे तुम रहत न क्यों गहि मौन।। 1।।

बात कोउ मूरख की यह मानो।
'हाथी मारै तौहू नाहीं जिनमंदिर में जानो।'
जग में तेरे बिना और है दूजो कौन ठिकानो।
जहाँ लखो तहँ रूप तुम्हारो नैनन-माँहि समानो।
एक प्रेम है एकहि प्रन है हमरो एकहि बानो।।
'हरीचंद' तब जग में दूजो भाव कहाँ प्रगटानो।। 2।।

जैनधर्म में प्रगट कियो तुम दया-धर्म सगरो।
'हरीचंद' तुमको बिनु पाए लरि-लरि जगत मरो।। 3।।

अर्थ:—श्री भारतेन्दु जी कहते हैं—जैन को नास्तिक कौन कहता है? जो जैन अहिंसामयी परमधर्म को आचरण करते हैं, जो दयामयी है और जो सदा ही विवेक के स्थान रहे हैं तथा सत्कर्मों के फल को मानते हैं —ऐसे जैनियों के श्रेष्ठधर्म को जो विरुद्ध (नास्तिक) मानते हैं, वे लोग महामूढ हैं। चाहे धर्म के किसी भी अंग को अपनायें, सब एक ही स्थान पर पहुँचते हैं। इन आखों से अर्थात् विवेक-दृष्टि से (पक्षपातरहित दृष्टि से) तो सभी स्थानों पर परम-आत्मा (गोपी-वल्लभ) दिखाई देता है। ऐसा कौन सा स्थान है—चाहे वह अग्नि-जल-पवन ही क्यों न हो, जहाँ परम-आत्मा (की दृष्टि) नहीं है? (यदि तुम ऐसी निर्मल बुद्धि नहीं रखते) तो हे मतवालो ! (अज्ञान-मोहदशा से व्याप्त) तुम सब मौन क्यों नहीं रहते? अर्थात् तुम्हें मौन रखना चाहिये।

'हाथी मारता हो तो भी (बचने के भाव से) जिनमन्दिर की शरण में मत जाओ' —यह बात किसी मूर्ख की है। जगत् में तेरे बिना मेरा और दूसरा कोई ठिकाना नहीं हैं। जहाँ भी देखता हूँ, इन आँखों में आपका रूप ही समाया हुआ है। एक ही प्रेम है, एक ही प्रण है, और हमारा एक वेश है। हरिश्चन्द्र कहते हैं—जग में दूसरा भाव कहाँ प्रकट हुआ है, एक ही सत् प्रकट है।

हे परम-आत्मा ! तुमने सम्पूर्ण दया धर्म को जैनधर्म में प्रकट किया है : तुम्हें बिना प्राप्त किये अर्थात् तुम्हें बिना समझे यह संसार परस्पर में लड़-लड़कर मर रहा है। ❖❖

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'दानं दुर्गति-नाशनम्'

महाकवि भास महान् प्राकृतज्ञ एवं भाषावेत्ता थे। उनके साहित्य की यशोगाथा देश और काल की सीमाओं से परे सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक हो चुकी है। संस्कृत साहित्य में उनकी जितनी ख्याति है, प्राकृत साहित्य के बारे में उनका अवदान उससे कहीं अधिक महान् है। वह जहाँ इतने महान् विद्वान् थे, वहीं उनका जीवन उदारता एवं परोपकार का अनन्य निदर्शन था। इसी की एक झलक इस संक्षिप्त कथा में प्रतिबिम्बित है। *–सम्पादक*

"**महाकवि भास प्रकाण्ड विद्वान्** थे। उन्होंने साधुओं के गुणगान ही नहीं गाए, उनका जीवन भी धर्ममय था। कोई भी व्यक्ति उनके पास आकर निराश नहीं लौटा – इतने उदार थे कवि भास ! कोई उनके द्वार पर आए और आँसू बहाता हुआ पुन: चला जाए, ऐसा कभी नहीं हुआ !

एक दिवस एक व्यक्ति **भास** के द्वार पर पहुँचा। भास ने ससम्मान उसे भीतर बिठाया, आतिथ्य-सत्कार किया। तदनन्तर आने का प्रयोजन अत्यन्त विनम्रता से पूछा। आगन्तुक ने कहा – "मेरी बेटी की शादी है। आपकी उदारता की गाथा सुनकर यहाँ चला आया। बेटी को प्रीतिदान देना तो दूर, उसके विवाह के लिए भी अर्थाभाव है ! अब आप ही का सहारा है।"

भास घर के भीतरी कक्ष में गए। इधर-उधर नज़रों ने टटोला, हाथों ने भी; किंतु देने योग्य वस्तु नहीं मिली ! **मध्याह्न का समय था, भास की पत्नी विश्राम कर रही थी। आँखों में निद्रा थी ही। उसके हाथों में कंगन चमक रहे थे।** भास ने सोचा–"जगाऊँ इसे ! यद्यपि यह बहुत उदार है, किंतु इन कंगनों के सिवाय इसके पास बचा ही क्या है? अत: यह कहीं देने से इन्कार न कर दे।"

भास चुपके से पत्नी के निकट गया, धीरे से हाथ उठाकर कंगन उतारने लगा। पत्नी पति के हाथ का स्पर्श पाकर जग गई, पूछा – "क्या बात है पतिदेव?"

भास ने सच-सच बात बता दी – "बाहर याचक खड़ा है। उसकी बेटी की शादी है ! घर टटोला, कुछ भी नहीं मिला; इसलिए तुम्हारे हाथ का एक कंगन दे रहा था !"

भास की पत्नी सन्नारी थी। धर्ममय जीवन था उसका। उसने कहा – "जैसी उसकी बेटी, वैसी हमारी भी बेटी !" उसने शीघ्रता के साथ दोनों हाथों से कंगन उतारे और भास के हाथों में देते हुए कहा – "मेरे हाथों में ये रहें या न रहें, किंतु बिटिया के हाथों में जरूर रहने चाहिए।"

भास गद्गद हो गया। लड़की का पिता प्रसन्नता से भर उठा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"पुरस्कारों की परम्परा एवं आचार्य कुन्दकुन्द पुरस्कार"

—पं० महावीर शास्त्री

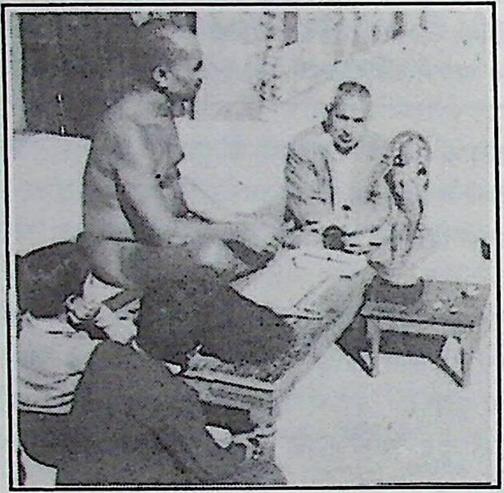

स्व० साहू शांत प्रसाद जी जैन प्रथम भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कारार्थ निर्मित वाग्देवी की प्रतिमा के साथ पूज्य आचार्यश्री विद्यानंद जी मुनिराज के पास बैठे हैं।

प्राचीन काल में विद्वानों एवं कलाकारों को राज्याश्रय प्राप्त होता था तथा उसी के सहारे विद्यायें एवं कलायें संरक्षित एवं विकसित होती रहती थीं। इतिहास साक्षी है कि सम्राट् विक्रमादित्य एवं राजा भोज जैसे अनेकों महान् सम्राटों ने विद्वानों एवं कलाकारों को इतना प्रश्रय एवं प्रोत्साहन दिया, कि इनके शासनकालों में भारत का सांस्कृतिक एवं साहित्यिक-भण्डार समृद्धि के उत्कर्ष पर रहा था। वे सम्राट् न केवल राज्याश्रय एवं राजकीय संरक्षण द्वारा प्रतिभाओं की सुरक्षा एवं विकास करते थे, अपितु उन्हें और अधिक सक्रिय बनाये रखने के लिये समय-समय पर पर्याप्त धनराशि एवं सम्पत्ति वाले पुरस्कार भी दिया करते थे। इसप्रकार सम्मान एवं समृद्धि दोनों का संबल पाकर कला एवं विद्वत्ता की वंशबेलि बढ़ती रही एवं नये-नये आयामों से प्रज्ञा के प्रकर्ष का आक्षितिज विस्तार होता रहा।

अंग्रेजों के शासनकाल में प्राचीन साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अवशेषों का पुरातात्त्विक सामग्री के रूप में संरक्षण तो हुआ, किन्तु साहित्य एवं संस्कृति के जीवित स्मारकों की उपेक्षाप्राय: होने लगी। तथा स्वतंत्रता-प्राप्ति के समय तक ये ही संस्कार भारतीय जनजीवन में भी गहरे घर कर गये। अत: विद्वानों के संरक्षण एवं प्रोत्साहन की परम्परा समाप्तप्राय: हो गयी, जिसके फलस्वरूप वैदुष्य की वंशबेलि सूखने लगी और विद्वानों की सन्तति वणिक्वृत्ति की ओर अग्रसर होने लगी। जैन समाज भी इससे अछूता नहीं रहा। बचे-खुचे विद्वान् किसी तरह उपेक्षा सहकर भी उपायान्तर न पाने के कारण अथवा विशेष विद्यानुराग के कारण येन-केण-प्रकारेण जीवन-यापन कर रहे थे। —ऐसे विषम वातावरण में विद्वानों एवं विद्या – दोनों के संरक्षण एवं पुनर्जीवन के लिये साक्षात् संजीवनी बनकर एक सन्त की क्रान्तदर्शी चेतना ने समाज का दिग्दर्शन किया तथा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्मानों एवं पुरस्कारों के माध्यम से न केवल उन्हें सम्मानित एवं प्रोत्साहित किया; वरन् उन्हें ज्ञान-विज्ञान के नूतन क्षितिज भी दिखाये और अनेकानेक बौद्धिक शोधकार्यों एवं योजनाओं में संलग्न कर आशा का सूर्य आलोकित किया; वे हैं परम पूज्य **आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज**; जिनकी पावन प्रेरणा का संबल पाकर श्रावक शिरोमणि साहू शांतिप्रसाद जी, उनकी सहधर्मिणी श्रीमती रमारानी जैन, साहू श्री श्रेयांस प्रसाद जी, सर सेठ हुकमचंद जी, गाँधी नाथा रंग जी ट्रस्ट, शोलापुर (महाराष्ट्र), अहिंसा प्रसारक ट्रस्ट, बम्बई, प्रबन्धकारिणी कमेटी अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी, कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर (म०प्र०) आदि महानुभावों एवं संस्थाओं ने अनेकों पुरस्कारों एवं सम्मानों की श्रृंखला बहुत पहिले से प्रवर्तित की थी। इनमें से अधिकांश अभी भी चल रहे हैं, यथा—भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार, मूर्तिदेवी पुरस्कार, गांधी नाथा रंग जी ट्रस्ट पुरस्कार, अहिंसा प्रसारक ट्रस्ट पुरस्कार, अतिशय क्षेत्र महावीर जी का पुरस्कार एवं कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ पुरस्कार आदि। इसके अतिरिक्त पूज्य आचार्य श्री की पावन सन्निधि में हुये अनेकों कालजयी सामाजिक-धार्मिक कार्यक्रमों में भी विद्वानों को नियमत: सम्मानित कराया गया।

सम्प्रति उन्हीं की मांगलिक प्रेरणा से सद्य: प्रवर्तित तीन पुरस्कार है— **1. पद्मश्री सेठ लालचंद हीराचंद दोशी स्मारक ट्रस्ट (बम्बई)** द्वारा प्रवर्तित प्रति वर्ष दिया जाने वाला **शौरसेनी प्राकृतभाषा विषयक 'आचार्य कुन्दकुन्द पुरस्कार'**, जिसमें शौरसेनी प्राकृतभाषा एवं साहित्य के विषय में उल्लेखनीय कार्य करने वाले व्यक्ति को प्रतिवर्ष एक लाख रुपये की राशि के साथ शॉल, श्रीफल, प्रशस्तिपत्र आदि भेंट कर भव्य समारोहपूर्वक सम्मानित किया जाता है। इस वर्ष यह सम्मान विख्यात भाषाशास्त्री एवं शिक्षाविद् प्रो० कमलचन्द जी सोगाणी, जयपुर (राज०) को दिया गया है (विशेष विवरण 'समाचार दर्शन' में देखें)। **2.** साहू श्री अशोक कुमार जी जैन द्वारा भारतीय ज्ञानपीठ के तत्त्वावधान में प्रवर्तित शौरसेनी प्राकृतभाषा विषयक **'आचार्य विद्यानन्द शौरसेनी प्राकृत पुरस्कार'**; यह भी प्रतिवर्ष एतद्विषयक विद्वान् को दिया जायेगा। इसमें 51000/- की राशि के साथ शॉल, श्रीफल, स्मृतिचिह्न-सहित भव्य समारोह में विद्वान् को सम्मानित किया जायेगा। इसी वर्ष से प्रारंभ यह पुरस्कार विख्यात विद्वान् प्रो० एम०डी० वसन्तराज, मैसूर (कर्नाटक) को शीघ्र ही समर्पित किया जायेगा। साथ ही श्री कुन्दकुन्द भारती ट्रस्ट द्वारा संस्कृत भाषा के क्षेत्र में राष्ट्रीय स्तर पर उल्लेखनीय कार्य करने वाले विद्वान् को एक लाख रुपये राशि के **'आचार्य उमास्वामी पुरस्कार'** के प्रवर्तन का निश्चय किया गया है।

इन सबके अतिरिक्त अनेकों शैक्षणिक संस्थानों, शोध संस्थानों एवं शोधपरक वैदुष्यपूर्ण के निर्माण, संचालन एवं उत्तरोत्तर प्राप्ति में भी पूज्य आचार्यश्री की पावन प्रेरणा एवं मंगल आशीर्वाद संजीवनी बनकर कार्य करते रहे हैं तथा यह पावन परम्परा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नित नये अध्याय जोड़ती हुई निरन्तर प्रवहमान है।

ऐसे 'ज्ञान-ध्यान-तपोरक्त' सारस्वत सन्त की उदार अनुकम्पा एवं मंगल आशीष का अमृतवर्षा वर्तमान विद्वानों के लिए तो 'कल्पवृक्ष की छाँह' के सदृश सुखकर ही; भावी पीढ़ी के लिये भी अपार संभावनाओं का आकर्षण एवं प्रोत्साहन संजाये हुये है।

जैन जगत् में ज्ञान-विज्ञान का जो अपार भण्डार विरक्त सन्तों एवं साधक विद्वानों ने अपनी प्रज्ञा के प्रकर्ष द्वारा उदार दृष्टि से ग्रथित किया है; उसके प्रचार-प्रसार एवं नवीन सृजन के लिये ऐसे सारस्वत सन्तों की महती उपादेयता है। बीसवीं शती में जब जैन विद्वत्परम्परा एवं विद्या-विकास का इतिहास लिखा जायेगा; तो उसमें 'बिन जांचै बिन चिंतये, विद्वानों को सबहिं सुख दैन' — के रूप में पूज्य आचार्यश्री का पावन स्मरण कृतज्ञतापूर्वक अवश्य होगा।

अभी भी जैन विद्या के अनेकों क्षेत्र एवं विद्वत्सन्तति पूज्य आचार्य श्री जैसे सारस्वत सन्तों की गुणग्राही उदार दृष्टि की अपेक्षा में चातकदृष्टि से निहार रहे हैं।

❖❖

With Best Compliments From:-

Freelance Corporation

12 Printing Press Area,
(Behind Punjab Kesari) Wazirpur,
Delhi-110 035 (INDIA)
Tel.: 7104050, 7192321, 7103020
Fax.: (91-11) 7102020

Manufactures of

Exclusive range of Tablemats, Luxury Trays, Shower curtains, Bedsheets, Tablelinen, Kitchen co-ordinates, Memoboards and Office Planners.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कविता

—प्रभाकिरण जैन

यह कविता द्वितीय आचार्य कुन्दकुन्द पुरस्कार, जो कि दिनांक 3 नवम्बर '96 को डॉ० कमलचन्द जी सोगाणी को दिया गया था, उस अवसर पर पढ़ी गयी थी। 'प्राकृतविद्या' के पाठकों के रसास्वादन के निमित्त यहाँ प्रस्तुत है। *—सम्पादक*

हे कुन्दकुन्द ! प्राकृत-पुत्र !
तव चरणों में शत्-शत् वन्दन,
हे पंथ-प्रणेता ! तव अनुगामी
कमलचन्द का अभिनन्दन।

हे कुन्दकुन्द ! प्राकृत-पुत्र !
वाणी का कर अमृत-वर्षण।
जिनधर्म फैलाया है तुमने,
कर 'समयसार' का पुण्य-सृजन।।

हे कुन्दुन्द ! प्राकृत-पुत्र !
तुम कल्पवृक्ष, तुम धर्मवृक्ष।
कितने ही काव्यमनीषी हों,
कोई है नहीं तेरे समकक्ष।।

हे कुन्दकुन्द ! तेरी जय हो,
हे प्राकृत-पुत्र ! तेरी जय हो।
हे जगदाचार्य ! तेरी जय हो,
हे श्रेष्ठ आर्य ! तेरी जय हो।।

जिनज्ञान-प्रभावी

विज्जारहमारूढो, मणोरहपहेसु भमदि जो चेदा।
सो जिणणाणपहावी, सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो।।' *—समयसार, 236*

—जो भव्यात्मा विद्यारूपी (आध्यात्मिक) रथ में आरूढ होकर 'मनोरथ' अर्थात् उत्कृष्ट आध्यात्मिक ज्ञानमार्ग में ही भ्रमण करता रहता है; उसे तीर्थंकरदेव के सम्यग्ज्ञान की धर्म-प्रभावना करनेवाला सम्यदृष्टि है —ऐसा मननपूर्वक जानना चाहिये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुस्तक-समीक्षा

(1)

पुस्तक का नाम – नमन और पूजन
लेखक – डॉ० सुदीप जैन
प्रकाशक – परोपकार ट्रस्ट, पी-491, केयातल्ला लेन, कलकत्ता-700029
पृष्ठ संख्या – 200+17=217; प्रथम संस्करण 2200 प्रतियाँ
मूल्य – पचास रुपये।

भारत में इष्ट-देवों के दर्शन एवं पूजन की परम्परा प्राय: सभी वर्गों में प्रचलित रही है। जैन आम्नाय में यह परम्परा कब से प्रचलित रही तथा इसकी विधि क्या है? –इसके बारे में आज तक कोई व्यवस्थित एवं शोधपरक प्रामाणिक कृति उपलब्ध नहीं थी। जबकि दर्शन-पूजन-सम्बन्धी साहित्य आज सर्वाधिक परिमाण में जैन समाज में प्रकाशित होता है, तथापि दर्शनविधि या पूजनविधि की क्रियाओं के बारे में इस तरह से कोई जानकारी उनमें प्राय: नहीं रहती है कि "अमुक क्रिया क्यों की जाती है तथा उसकी पूर्ण विधि एवं क्रम क्या है?" —इस प्रामाणिक रचना के द्वारा एक बड़े अभाव की पूर्ति हुई है।

मूलसंघ के अनुसार शुद्ध आम्नाय की परम्परा में दर्शन एवं पूजन के ऐतिहासिक क्रम से लेकर वैज्ञानिक विधि से इसकी एक-एक क्रिया का वर्गीकरणपूर्वक विश्लेषण इस कृति का मौलिक वैशिष्ट्य है। इस शोधपरक कृति में कुल आठ खण्ड हैं—जिनमें प्रथम खण्ड में 'प्रस्तावना' शीर्षक से पूजन का ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक परिचय दिया गया है। द्वितीय खण्ड में दर्शन एवं पूजन के सम्बन्ध में मूल परम्परा का परिचय देते हुये 'मूल दर्शन-पूजन-विधि' को स्पष्ट किया गया है। 'तृतीय खण्ड' में समसामयिक सन्दर्भ में प्रचलित पूजन-पाठों को लेकर न्यूनतम दर्शन-पूजनविधि क्या होनी चाहिये? –इसका सुन्दर विवेचन किया गया है। मूलपाठ भी इसमें दिये गये हैं तथा मूलविधि की कौन-सी क्रिया आज हम किस रूप में करते हैं तथा कौन-सी क्रियायें हम भूल चुके हैं?—यह भी इसमें समझाया गया है। चतुर्थ खण्ड में 'परिशिष्ट' शीर्षक के अन्तर्गत दर्शन एवं पूजन विधि में प्रयुक्त पारिभाषिक विशिष्ट शब्दावलि का अति महत्त्वपूर्ण ढंग से विवेचन किया गया है। इसमें प्रक्षाल, गंधोदक, शासनदेवी-देवता-पूजन, पूजन का फल, पूजन के द्रव्य एवं उनकी परम्परा, प्रतिक्रमण तथा स्वस्तिक-निर्माण विधि एवं अर्थ आदि बिन्दु विशेषत: उल्लेखनीय ढंग से विवेचित हुये हैं। पंचम खण्ड में 'सन्दर्भ ग्रंथ सूची' शीर्षक से इस कृति में उद्धृत सन्दर्भों के ग्रंथों का अकारादि क्रम से परिचय दिया गया है। छठवें खण्ड 'शब्दानुक्रमणिका' शीर्षक से कृति में समागत विशिष्ट शब्दों का विवरण दिया गया है। सप्तम खण्ड में अद्यावधि हुये दिगम्बर जैन पूजा-सम्बन्धी साहित्य के रचयिताओं एवं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उनके ग्रंथों का संक्षिप्त उल्लेख किया गया है। तथा अष्टम खण्ड में कुछ रेखाचित्रों द्वारा विशिष्ट कार्यों को समझाया गया है। अन्त में 'आदर्श वाक्य' शीर्षक के द्वारा सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण उद्धरणों को अर्थसहित संक्षेपत: दिया गया है।

विद्वान् लेखक ने अपनी इस रचना को स्वयं सम्पादित कर इसके बारे में 'सम्पादकीय' शीर्षक के अन्तर्गत प्रदत्त विवरण में ग्रन्थ के बारे में सम्पादकीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण परिचय दिया गया है।

कुल मिलाकर उत्कृष्ट कागज एवं नयनाभिराम मुद्रण के साथ-साथ पक्की बाइंडिग की यह रचना समाज के प्रत्येक वर्ग के लिये पठनीय, मननीय एवं संग्रहणीय है।

—पं० महावीर शास्त्री

(2)

पुस्तक का नाम – **कर्मबन्ध की प्रक्रिया में मिथ्यात्व और कषाय की भूमिका**
लेखक – डॉ० देवेन्द्र कुमार शास्त्री
प्रकाशक – ज्ञानोदय ग्रन्थमाला, 243, शिक्षक कलोनी, नीमच (म०प्र०)-458441
पृष्ठ संख्या – 194+29=223 (डिमाई साईज पेपरबैक)
मूल्य – बारह रुपये।

जैनदर्शन में 'मिथ्यात्व' को सर्वप्रथम बन्धकारण ("मिथ्यात्व-अविरति-प्रमाद-कषाय-योगा : बन्धहेतव: "त०सू० 8/1) माना गया है। इस मिथ्यात्व के साथ-साथ कषायों की भी बन्ध-प्रक्रिया में कब-कैसी भूमिका रही है? —इसका प्रभूत श्रमपूर्वक आगम-निष्ठा के साथ प्रामाणिक विवेचन इस रचना में प्राप्त होता है। इसमें कुल बावन (52) बिन्दुओं के अन्तर्गत सविस्तार संसार, कर्म, आस्रव-बन्ध, मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी कषाय आदि विषयों का महत्त्वपूर्ण विवरण एवं समीक्षा प्रस्तुत की गयी है।

इस रचना पर आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज के 'आद्यमिताक्षर' जिनालय के शिखर पर स्वर्णकलश की भाँति महनीय एवं सारगर्भित है। जिज्ञासुओं, विद्वज्जनों एवं स्वाध्यायीजनों के लिये यह कृति विशेषत: आकर्षक का केन्द्र रहेगी।

शोधपरक शैली में लिखित एवं अच्छी छपाई में मुद्रित यह कृति यदि पक्की बाइंडिग में होती, तो इसके आकार-प्रकार एवं महनीयता को देखते हुये इसकी संग्रहणीयता और अधिक बढ़ जाती।

— सम्पादक

(3)

पुस्तक का नाम – **जैन वास्तुविद्या**
आशीर्वचन – पं० नाथूलाल शास्त्री, इन्दौर
लेखक – डॉ० गोपीलाल 'अमर'
सम्पादन एवं प्रस्तावना – डॉ० सुदीप जैन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकाशक – कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली-110067
पृष्ठ संख्या – 104+25=129, (ए-4, साईज) (हार्ड बाउंड एवं पेपर बैक)
मूल्य – पच्चीस रुपये।

'वास्तुविद्या' साम्प्रतिक वातावरण में अतिचर्चित एवं आकर्षण का विषय है। यद्यपि यह कोई आधुनिक विद्या न होकर अति प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक एवं वैज्ञानिक चिन्तन से प्रसूत एक महत्त्वपूर्ण कला है। तथापि मध्यवर्ती विगत दो-एक शताब्दियों में इसकी चर्चा प्राय: नगण्य रही तथा आधुनिक सुविधाभोगी दृष्टिकोण के फलस्वरूप भवन-निर्माण कार्यों में एक-एक इंच जगह का सुविधानुसार उपयोग करने की प्रवृत्ति पनपी। औचित्य का निर्धारण निवेशित धन की पूरी-पूरी कीमत वसूलने से होने लगा। ऐसी स्थिति में जब प्रतिकूल फल मिलने लगे, तो लोगों का ध्यान इस उपेक्षित हो चुकी विधा की ओर गया; तथा अब तो इसकी माँग इतनी बढ़ गयी है कि इसका व्यवसायीकरण हो गया है। ऐसी स्थिति में समाज को तथ्यपरक जानकारी सहज सुलभ हो सके – इस दृष्टिकोण से लागत से भी कम मूल्य में यही कृति कुन्दकुन्द भारती जैसे प्रतिष्ठित संस्थान के द्वारा प्रकाशित होना एक महत्त्वपूर्ण समाजसेवा कही जा सकती है।

यद्यपि लेखक व सम्पादक—दोनों ने इसे इस विषय का प्राथमिक ग्रंथ या प्रस्तावना स्वरूप कहा है, तथापि इसमें इस विषय के जिज्ञासुओं के लिये पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। हाँ ! इतना अवश्य है कि उनके इस कथन से इस विषय की महनीयता एवं गम्भीरता का बोध हो जाता है।

इस कृति के प्रारंभ में विद्वद्वरेण्य पं० नाथूलाल जी शास्त्री, इन्दौर का 'आशीर्वचन' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वे जैन विधिविधान के मर्मज्ञ शीर्षस्थ विद्वान् हैं तथा अपने संक्षिप्त वक्तव्य में उन्होंने अनेकों महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं को स्पर्श किया है। सम्पादक डॉ० सुदीप जैन की 'प्रस्तावना' भी अत्यन्त सारगर्भित एवं विषय की महनीयता को ज्ञापित करती है। सम्पादन-गौरव तो स्पष्टत: ही परिलक्षित है। लेखक डॉ० अमर जी ने भी प्रभूत श्रमपूर्वक विषय को सुगठित रूप में प्रस्तुत किया है। इस कृति में उनके इस श्रम का पदे-पदे दर्शन होता है।

कुल मिलाकर जैनत्व की परिधि में एक नवीन, महत्त्वपूर्ण विषय का विवेचन करनेवाली यह रचना बहुजन-उपयोगी एवं संजोकर रखने योग्य है। कृति का मुद्रण, पेपर एवं बाइंडिंग—तीनों अति उत्कृष्ट श्रेणी की हैं; जिनसे इसकी गरिमा और भी बढ़ जाती है।

—पं० जयकुमार उपाध्ये

(4)

पुस्तक का नाम – शिक्षा एवं संस्कृति : नये सन्दर्भ
मूल लेखक – डॉ० भास्कर मिश्र

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकाशक – भावना प्रकाशन, दिल्ली।
पृष्ठ संख्या – 235+12=247 डिमाई साईज
मूल्य – एक सौ पचास रुपये।

आधुनिक वैज्ञानिक सुविधाओं से सम्पन्न इस युग में प्रकाशन कार्य अति सुलभ एवं यान्त्रिकी हो जाने से प्रकाशनों की बाढ़-सी आ गयी है, —ऐसे में मौलिक प्रतिभा एवं प्रभूत श्रमपूर्वक लिखे गये ग्रन्थ प्राय: कम ही दृष्टिगोचर होते हैं। सौभाग्य से प्रस्तुत समीक्ष्य कृति उसी विशिष्ट श्रेणी की रचना है।

समीक्ष्य कृति में 12 खण्डों के द्वारा शिक्षा एवं संस्कारों का विशिष्ट महत्त्व विद्वान् लेखक ने अपनी मौलिक प्रतिभा एवं चिन्तन के द्वारा प्रस्तुत किया है।

आजकल तो उपदेशक एवं वक्ता बहुतेरे मिलते हैं, जैनशास्त्रों में तो दो इन्द्रिय (स्पंर्शन एवं रसना-मुँह) वाले प्राणी को भी 'वक्ता' कह दिया गया है, क्योंकि मुँह से स्वाद लेने एवं ध्वनि-उच्चारण—दोनों की सामर्थ्य सिद्ध हो जाती है। रूसी वैज्ञानिकों ने तो चींटी की भाषा को भी रिकार्ड किया है, किंतु वे उसे समझने में अद्यावधि असमर्थ रहे हैं। अत: मात्र बोलने की सामर्थ्य के आधार पर वक्तृत्व एवं अध्यायकत्व का निर्धारण नहीं कर सकते हैं और न ही उनके वक्तव्य को शिक्षा कहा जा सकता है, जो कि संस्कारों का निर्माण करती है।

इसीलिये जैनशास्त्रों में शिक्षा के बारे में यह भी कहा गया है कि इसके लिए साधारण पात्रता 'समनस्क' (संज्ञी पंचेन्द्रिय) होना भले ही हो, किन्तु उसकी प्रयोगविधि के लिए विशेष मानदण्डों का निर्धारण अपेक्षित है। 'शिक्षा' आदि की विशेष व्युत्पत्तियाँ भी जैन-ग्रंथों में दी गयी हैं। यथा—जिसके द्वारा हित का ग्रहण और अहित का त्याग किया जाये, उसे 'शिक्षा' कहते हैं; इच्छापूर्वक हाथ-पैर आदि संचालन करने को 'क्रिया' कहते हैं, वचन अथवा अंगुली आदि से बताये गये संकेत को 'उपदेश' कहते हैं तथा वाक्यादि के पाठ को 'आलाप' कहते हैं। —ये लक्षण जिस पर घटित हों, वही 'मनसहित' या 'संज्ञी' है।

इसीप्रकार भारतीय वाङ्मय में 'शिक्षा' एवं 'संस्कारों' पर जो महत्त्वपूर्ण विचार उपलब्ध है, उन्हें नूतन चिन्तन-आयामों से प्रस्तुत कृति में प्रस्तुत करके विद्वान् लेखक ने इसकी उपादेयता एवं महत्ता का क्षितिज दिखलाया है। इस श्रमसाध्य कार्य के लिये लेखक साधुवाद-योग्य है।

मुद्रण नयनाभिराम है। अन्य सभी सामग्री भी स्तरीय है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अभिमत

◎ ज्येष्ठ-श्रेष्ठ सामग्री-संयुक्त पत्रिका की समृद्धि न केवल प्रभावित करने में सक्षम है, अपितु प्रशंसा के भी सभी उपमान उपलब्ध कराती है। निरन्तर नए कीर्तिमान स्थापित हो रहे हैं। आपकी लेखनी एकदम जाह्नवी-सी बहती है। प्रत्येक रचना में अपना अलग-अलग रस है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर 'प्राकृत-विद्या' के प्रचार-प्रसार का समाचार गौरवान्वित करता है। संपादकीय स्वयं में प्राकृतभाषा पर कई दृष्टियों से एक सम्पूर्ण आलेख है। निःसन्देह 'प्राकृतविद्या' सही दिशा में कार्यरत है। यह प्राकृत-साहित्य, जैनागम की प्राचीनता, जैन संस्कृति की श्रेष्ठता की सच्ची हितैषी एवं संरक्षिका सिद्ध हो रही है।

सत्य से धुले-धुले शब्द, मार्मिकता, अगाध ज्ञान-गरिमा के संवाहक, अकृत्रिम अक्षय, चुम्बकीय, सहज, आकर्षक है।

आपकी इस प्राकृत-यात्रा में आपके विचारों से हमारी सहभागिता है।

—डॉ० (श्रीमती) नीलम जैन, *सहारनपुर* **

◎ 'प्राकृतविद्या' में प्रकाशित सभी आलेख वैज्ञानिक-सुरुचिपूर्ण गंभीर चिंतन-मनन से परिपूर्ण आपके कुशल सम्पादन और मौलिक प्रतिभा के भास्वर हस्ताक्षर है। पत्रिका दीर्घायु हो, —एतदर्थ मंगलकामनायें, साधुवाद। —डॉ० योगेन्द्र कुमार जैन, *इन्दौर* **

◎ 'प्राकृतविद्या' का जुलाई-सितम्बर '96 का अंक प्राप्त कर हार्दिक प्रसन्नता हुई। इस अंक के प्रायः सभी लेख ज्ञानवर्धक एवं भावप्रवण हैं। आपकी सम्पादकीय टिप्पणी लेखों की गरिमा को अतिरिक्त आभा प्रदान करती है। आप जिस तत्परता, योग्यता एवं अभिनव तेवर के साथ सम्पूर्ण सामग्री को सजाने-संवारते हैं और स्वयं भी गम्भीरता से लिखते हैं, वह सब आपके सारस्वत व्यक्तित्व की अनुकरणीयता सिद्ध करता है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह उच्चस्तरीय पत्रिका अतिशीघ्र 'राष्ट्रिय महत्त्व' की पत्रिका के रूप में स्वीकृत होगी। —डॉ० आर०के० जैन, *चेन्नई* **

◎ 'प्राकृतविद्या' का नवीन अंक मिला। 'प्राकृतविद्या' के अन्तर्राष्ट्रीय सूचनातंत्र में शामिल होने की सूचना पढ़कर हार्दिक प्रसन्नता हुई। 'प्राकृतविद्या' को यह गौरव मिला यह हम सब के लिए गर्व की बात है। प्राकृतविद्या-परिवार के लिये बहुत-बहुत बधाई।

—डॉ० कमल चंद सौगाणी, *जयपुर* **

◎ 'प्राकृतविद्या' का जुलाई-सितम्बर '96 का अंक मिला। आप बड़ी मेहनत से अंक तैयार करते हैं। संपादकीय बहुत अच्छा लगा। सभी लेख ज्ञानवर्धक हैं, विशेषतः 'चातुर्मास की सार्थक परम्परा', 'णमो, अर्हम् और ओम् शब्दों का विश्लेषण', 'कुमार श्रेयांस प्रदत्त इक्षुरस का आहार' आदि लेख बहुत चित्ताकर्षक लगे। आपका श्रम सार्थक हो रहा है। —गीता जैन, *मुम्बई* **

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक विशेष पत्र

◎ श्री कुन्दकुन्द भारती के शिलान्यास से आज तक हमें जो उपलब्धि हुई है, वह वर्णनातीत है। मेरा सारा अध्यात्म आचार्यश्री विद्यानन्द जी द्वारा प्रतिपादित है। इसमें प्रमुख श्रेय कुन्दकुन्द भारती द्वारा प्रकाशित व अनुवादित उन ग्रन्थों का है, जिन्हें हम जैसे मूढ़ भी सरलता से ग्रहण कर पाते हैं। सब पहले आचार्यश्री से बारस-अणुवेक्खा का अंग्रेजी व हिन्दी अनुवाद प्राप्त किया था, तभी से जिनधर्म का स्वरूप व अध्यात्म की ज्योति प्रकाशित हुई, थी जो आज 7 वर्षों में भी निरन्तर प्रज्ज्वलित है।

पिछले वर्ष जब श्री महेन्द्र जी ने 'प्राकृतविद्या' की कुछ नई-पुरानी प्रतियाँ मुझे दीं, तो अनुमान नहीं था कि इस कलयुग में हम कल-पुर्जों को समझनेवाले अपने वास्ताविक ज्ञान व प्राकृतिकरूप को उजागर कर सकेंगे। उपरोक्त अंक मुझे मेरे पुत्र ने डाक से जुलाई/अगस्त में भेज दिया था। यहाँ इस अंक का वास्तव में विमोचन करने का समय मिला, तो कुन्दकुन्द भारती 7000 कि०मी० दूर होने पर भी 7 कि०मी० से भी निकट ही लगी। वैसे तो इस अंक के सभी लेख, निबन्ध व समाचार अत्यन्त उच्चकोटि के व हृदयग्राही है। परनतु 'कुन्दकुन्द स्वामी के एक दृष्टान्त पर' के प्रो० बसन्तराज के लेख ने हृदय में 'प्राकृतभाषा' में एक अनुपम श्रद्धान व भक्ति उत्पन्न कर दी है। 'मायाचारोव्व' शब्द की इतनी सुन्दर समीक्षा आचार्य कुन्दकुन्द को जहाँ भगवान्-तुल्य स्थान प्रदान करती है; वहीं प्रो० बसन्तराज की महानता भी है, जिन्होंने हमें प्राकृतभाषा का इतना मार्मिक विश्लेषण कर हमें अरहन्त, केवली व आचार्य परमेष्ठी के रूप का दर्शन कराया है। हम उनके आभारी है। इसप्रकार के सारगर्भित लेख प्राकृतभाषा के अनन्त वैभव को आज के प्रबुद्ध श्रावकों में अत्यन्त रूचि उत्पन्न करेंगे। आचार्यश्री द्वारा प्राकृतभाषा का जो बीजांकुर हुआ है, वह शीघ्र ही फलीभूत होगा। हमारा उन्हें शत्-शत् वन्दन व नमन। —**सचिन जैन**, *कोरिया गणराज्य* **

◎ 'प्राकृतविद्या' का अभिनव अंक हस्तगत हुआ। प्रस्तुत पत्रिका के माध्यम से आप अति महत्त्वपूर्ण सामग्री का प्रकाशन कर रहे हैं, तदर्थ बधाई।

—**रतनचंद्र अग्रवाल**, *पूर्व निदेशक, राजस्थान पुरातत्त्व विभाग, जयपुर* **

◎ जिस तरह समुद्र की गहराई से मोती वाली सीप को ढूँढ़कर बाहर निकाला जाता है, उसी तरह शौरसेनी, प्राकृत एवं सांस्कृतिक मूल्यों की यह त्रैमासिक पत्रिका 'प्राकृत-विद्या' भारत के जैन जगत् के मूल, दुर्लभ एवं प्रमाणित ग्रन्थों से धर्मरूपी मोतियों को ढूंढ-ढूंढ कर प्रकाशित एवं प्रसारित करती है। —**विनोद कुमार जैन**, *फरीदाबाद* **

◎ 'प्राकृतविद्या' नामक इस त्रैमासिक शोध-पत्रिका के द्वारा प्राकृतभाषा एवं प्राच्य भारतीय ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में एक राष्ट्रीय आवश्यकता की पूर्ति हुई है। विशेषतः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शौरसेनी प्राकृतभाषा, जो कि तीर्थंकर नेमिनाथ और नारायण श्रीकृष्ण के युग से न केवल जनभाषा, अपितु साहित्य की भाषा भी रही; के बारे में प्रथम बार इतनी प्रामाणिक जानकारी मिली। साथ ही प्रोफेसर नथमलजी टांटिया जैसे निर्विवाद एवं प्रामाणिक मनीषी के शौरसेनी प्राकृतभाषा की प्राचीनता के बारे में दो-टूक विचार जानकारी अत्यधिक प्रसन्नता हुई। और अब तो इस शोध-पत्रिका को अंतरराष्ट्रीय स्तर भी मिल गया है, जो कि इसकी गौरव-गरिमा का परिचायक है। इतनी शोधपूर्ण सामग्री को सुव्यवस्थित रूप में सजाकर प्रस्तुत करने के लिये आप बधाई के पात्र है।

—डॉ. शुभचंद जैन, मैसूर **

◎ 'प्राकृतविद्या' का नया अंक पढ़ा। इस गरिमा मंडित शोधपत्रिका के द्वारा भारत की प्राचीन जनभाषा शौरसेनी प्राकृत के विषय में जैसी नितनूतन ऐतिहासिक एवं शोधपरक जानकारियाँ मिल रही हैं, उनसे विद्वज्जगत् भी आश्चर्यचकित है। वास्तव में इस भाषा की गरिमा को पहिचानने में विद्वानों से भी बड़ी भूल हुई है। यदि पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द की पावन प्रेरणा एवं मार्गदर्शन नहीं होता, तो संभवत: बीसवीं शताब्दी के इतिहास की भयंकरतम भूल होती 'शौरसेनी प्राकृत की विद्वानों द्वारा उपेक्षा'। —इस महान् कार्य के लिये मैं पूज्य आचार्यश्री के प्रति विनयावनत हूँ तथा 'प्राकृतविद्या' के सुधी सम्पादकवर्ग को उनकी इतिहास-गौरव उपलब्धि के लिए हार्दिक बधाई देता हूँ।

डॉ० नथमल ही टांटिया के विचारों से मैं पूर्णत: सहमत हूँ। शौरसेनी प्राकृत के क्षेत्र में अपनी सेवाओं के लिये मैं प्रस्तुत हूँ। —प्रो० एम०डी० बसंतराज, मैसूर **

◎ 'प्राकृतविद्या' दिनोंदिन शोधलेखों द्वारा नई-नई शोध सामग्री प्रस्तुत कर विद्वानों एवं सर्वसाधारण के भी ज्ञानवर्धन में सहायक सिद्ध हो रही है। इसमें प्रकाशित सभी सामग्री वैदुष्यपूर्ण है। —पं० नाथूराम डोंगरीय, इन्दौर *(म०प्र०)* **

भवबद्ध-शुभाशुभ-कर्म-विपाकद फलन।
विदेंतने कत्तले मने य वस्तुवं तोर्व सोडर बेळगिनंते।।

—आचार्य श्रीधर, जातकतिलकम्, 4/19

अर्थ:—ज्योतिषरूप ज्ञान अंधकार में रहनेवाली वस्तुओं को प्रकाशित करने वाले दीपक के समान भव-भावान्तर में किये हुये शुभाशुभ कर्मों से इस भव में उत्पन्न होने वाले फलों को दर्शाता है; न कि आकाश में स्थित ग्रह नक्षत्र, तारा, राहु, केतु एवं शनि आदि दु:ख देते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुरस्कार के अवसर पर शुभ संदेश

—के०आर० चन्द्रा

[डॉ० के०आर० चन्द्रा वरिष्ठ प्राकृतज्ञ भाषामनीषी एवं निरन्तर ज्ञानसाधनारत विद्वान् हैं। एक विद्वान् का सम्मान सच्चे मनीषी के हृदय में वैसा ही उल्लास एवं उत्साह जगाता है, जैसे अपने सहोदर को कोई उपलब्धि होने पर दूसरे भाई को हर्ष होता है। जैसी उदारदृष्टि एवं गरिमापूर्वक डॉ० चन्द्रा ने डॉ० सौगाणी जी को पत्र लिखा, उसे उनकी विशाल हृदयवृत्ति के परिचायार्थ यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। —सम्पादक]

आपके द्वारा भेजी गयी 'द्वितीय आचार्य कुन्दकुन्द पुरस्कार' संबंधी निमन्त्रण-पत्रिका पाकर बड़ी ही प्रसन्नता हुई। इस अवसर पर आपश्री ने मेरा स्मरण किया, तदर्थ आपका और श्री कुन्दकुन्द भारती का बहुत ही आभारी हूँ। पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज हमारी अपनी ही विस्मृत और त्यक्त प्राकृतभाषा और साहित्य के प्रचार और प्रसार के लिए जिस अप्रतिम उत्साह के साथ एक मिशनरी के रूप में जो कार्य कर रहे हैं और मात्र कर्मकाण्ड और क्रियानुष्ठान की चहारदीवारी से बाहर निकलकर उनके द्वारा ज्ञान-प्रकाश के जगत् में मुक्त विहार करने का जो उद्यम किया जा रहा है —वह शलाघनीय ही नहीं, वरन् अन्य रूढ़िचुस्त धर्माचार्यों के लिए अनुकरणीय भी है। इस तरह की प्रवृत्ति से जैन साहित्य के विद्वान् आत्मगौरव का अनुभव करने लगे हैं। विद्वानों का योग्यरूप से सन्मान करना हमारा समाज भूल ही गया था। अब इस परम्परा का पुनरुज्जीवन हो रहा है, —यह सांस्कृतिक पुनरोद्धार का एक सुलक्षण है।

प्रोफेसर (डॉ०) श्री कमलचन्द जी सोगाणी के साथ मेरा परिचय बहुत पुराना है। दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक होते हुए भी दीर्घकाल से उत्तम ग्रंथों की 'चयनिकाओं' के द्वारा उन्होंने अर्द्धमागधी, शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृत भाषाओं को अपनी विशिष्ट शैली से जनसाधारण में उन्होंने सरल बना दिया है। इसप्रकार प्राकृतभाषा की जो सेवा वे कर रहे हैं, वह स्वयं प्राकृतभाषा के प्राध्यापक भी नहीं कर पा रहे हैं। और अब वे अपभ्रंश भाषा की निष्ठापूर्वक सेवा कर रहे हैं अर्थात् उन्होंने अपना सारा जीवन प्राकृत भाषाओं की सेवा करने में ही समर्पित कर दिया है —यह हम सबके लिए प्रशंसनीय है। अत: ऐसे सुयोग्य व्यक्ति को जो 'पुरस्कार' दिया जा रहा है, उससे स्वयं इस पुरस्कार की शोभा में अभिवृद्धि हो रही है —ऐसा मैं नि:सन्देह रूप से मानता हूँ।

इस शुभ अवसर पर मैं श्री सोगाणी जी को हार्दिक बधाई का शुभेच्छा संदेश भेज रहा हूँ और साथ ही साथ पूज्य आचार्य श्री को भी अपनी तरफ से सविनय वंदन भी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समाचार दर्शन

डॉ० सौगाणी को द्वितीय आचार्य कुन्दकुन्द पुरस्कार समर्पित

"प्राकृतभाषा भारत की राष्ट्रिय एकता, सौहार्द एवं अखण्डता का शंखनाद करती है तथा समस्त प्राकृतभाषाओं में 'शौरसेनी प्राकृत' साहित्यिक एवं भाषिक महत्त्व की दृष्टि से प्राचीनतम है। नारायण श्रीकृष्ण तीर्थंकर नेमिनाथ जैसे कालजयी महापुरुषों के समय से ही यह भाषा समग्र भारतीय चेतना की प्रतिनिधि भाषा बनी हुई है। अत: अपने नैतिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के संरक्षण एवं अभिवर्धन के लिये हमें इसके महत्त्व को स्वीकार करना होगा तथा इसके व्यापक प्रचार-प्रसार के लिये दूरगामी योजनाओं को कार्यरूप देना होगा। साथ ही इस विषय की लुप्तप्राय: विद्वत्परम्परा को भी ससम्मान सुरक्षित रखते हुये इसकी अभिवृद्धि के लिए सार्थक प्रयास करने होंगे।" —ये विचार आचार्यप्रवर श्री विद्यानंद जी मुनिराज ने शौरसेनी प्राकृतभाषा विषयंक 'द्वितीय आचार्य कुन्दकुन्द पुरस्कार समर्पण समारोह' के सुअवसर पर व्यक्त किये। वर्ष 1995 का यह पुरस्कार भारतीय भाषाओं के प्रख्यात विद्वान् एवं दर्शनशास्त्री प्रो० (डॉ०) कमलचन्द जी सौगाणी को दिनांक 3 नवम्बर रविवार को कुन्दकुन्द भारती प्रांगण में भव्य समारोह पूर्वक समर्पित किया गया।

समारोह के मुख्य अतिथि पद से बोलते हुये भारतीय राष्ट्रिय कांग्रेस (इ०) के अध्यक्ष श्री **सीताराम जी केसरी** ने कहा कि "जैन समाज ने राष्ट्र की अनुपम सेवा की है। साहू जैन परिवार, सेठ लालचंद दोशी परिवार आदि घरानों ने राष्ट्र की आजादी के संग्राम में एवं इसके नवनिर्माण के कार्य में उल्लेखनीय योगदान दिया है। उद्योग जगत् एवं राष्ट्रसेवा के अतिरिक्त इन परिवारों के द्वारा साहित्य एवं कला के क्षेत्रों में की गयी सेवायें भी महनीय रहीं हैं।" उन्होंने सन् 1928 में घटित एक घटना का भावविभोर होकर उल्लेख करते हुये बताया कि "तब इसी दोशी परिवार के कोई महापुरुष राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी से मिलने गये। स्वाधीनता के संग्राम में अर्थतत्त्व की भी आवश्यकता का अनुभव करते हुये वे गाँधी जी के थोड़ी देर को कक्ष से बाहर जाने पर उनके तकिये के नीचे बारह हजार रुपये रख कर चले गये। बाद में गाँधी जी ने जब वह धनराशि देखी, तो आश्चर्य से पूछा कि इतने रुपये कहाँ से आये, तो वह उपस्थित कांग्रेसजन ने कहा कि दोशी परिवार के जो सज्जन अभी आये थे, वे ही अति विनम्र भाव से रख गये हैं। आप जैसे महापुरुष को धनराशि देकर वे अपना बड़प्पन नहीं दिखाना चाहते थे।" उन्होंने आगे कहा कि "पद्मश्री सेठ लालचंद हीराचंद दोशी की स्मृति में प्रवर्तित यह शौरसेनी प्राकृतभाषा-विषयक पुरस्कार इसी क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण 'मील का पत्थर' सिद्ध होगा।" साथ ही उन्होंने विशेषरूप से कहा कि "पूज्यपाद आचार्यश्री विद्यानंद जी मुनिराज जैसे पारदृश्वा सन्तों की पावन कृपादृष्टि से सम्पन्न होने वाले ऐसे कार्यों का महत्त्व तो स्वत: एक पवित्र अनुष्ठान के रूप में हो जाता है।"

विशिष्ट अतिथि के रूप में पधारे पूर्व लोकसभाध्यक्ष **श्री शिवराज जी पाटिल** ने कहा कि "यह समारोह चतुर्विध पुरुषार्थों का मांगलिक अनुष्ठान बन गया है। सन्तगण धर्म और मोक्ष

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुरुषार्थ का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं, तो विद्वद्गण एवं श्रेष्ठिवर्ग उनकी सन्निधि में अर्थ एवं काम पुरुषार्थ का लोकहितकारी रूप प्रस्तुत कर रहे हैं। अत: आचार्यश्री जैसे महान् सन्त के सान्निध्य में होने वाला यह सारस्वत कार्य अनुपम एवं लोकोत्तर महत्त्व का हो गया है।"

पुरस्कार समर्पण-कार्यविधि में डॉ० मण्डन मिश्र जी ने डॉ० सोगाणी जी को तिलक एवं माल्यार्पण किया। साहू श्री रमेशचंद जी जैन ने श्रीफल समर्पित किया, श्री अरविंद दोशी ने प्रशस्तिवाचन किया। श्री शिवराज जी पाटिल ने शॉल ओढ़ाकर सम्मान किया एवं श्री सीताराम केसरी ने प्रशस्ति-पत्र भेंट किया। तथा न्यास के अध्यक्ष श्री विनोद दोशी ने डॉ० सोगाणी जी को एक लाख रूपयों की राशि का ड्राफ्ट समर्पित किया। पुरस्कार ग्रहण करने के बाद अपने कृतज्ञतावचनों में डॉ० सोगाणी जी ने न्यास, पुरस्कार समिति एवं चयन समिति का आभार स्वीकार करते हुये इस सबके लिए पूज्य आचार्यश्री विद्यानंद जी मुनिराज के पावन आशीर्वाद को ही मूल उपादान माना तथा कहा कि "मैं आप सबके स्नेह से अभिभूत हूँ तथा इस राशि का उपयोग प्राकृतभाषा के प्रचार-प्रसार के लिये करने का संकल्प लेता हूँ।"

भारतीय भाषाओं के प्रख्यात विद्वान् एवं सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ० मण्डन मिश्र जी ने कहा कि "इस पुरस्कार की चयन समिति के अध्यक्ष के रूप में मैं अत्यन्त संतोष का अनुभव कर रहा हूँ कि डॉ० कमलचन्द सौगाणी जैसे मनीषी सांधक को यह पुरस्कार समर्पित हो रहा है। जहाँ इस गौरवशाली कार्य से भारतीय भाषाओं की मूलस्रोत शौरसेनी भाषा एवं साहित्य के प्रति जनमानस में जिज्ञासा एवं प्रेरणा का भाव जागृत होगा, वहीं इसके प्रचार-प्रसार के लिये भी सम्पूर्ण विद्वत्समाज को संकल्प लेना होगा।"

समारोह के अध्यक्ष पद से बोलते हुये पत्रकार-महर्षि साहू श्री रमेशचन्द जैन ने कहा कि "सन्तों को-चिन्तन सदैव लोकहितकारी कार्यों के लिए समर्पित रहता है। वे तो कल्पवृक्ष के समान लोककल्याण के निमित्त एवं महामंगल-स्वरूप होते हैं। ऐसे संतों की प्रेरणा एवं आशीर्वाद से लक्ष्मीपुत्रों के द्वारा सरस्वती के आराधकों का सम्मान हो —यह इतिहास का अनूठा संगम दृश्य आज हमारे मध्य घटित हो रहा है। हमें आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि लोकनायक श्री केसरी जी एवं राजनीति के शीर्ष व्यक्तित्व श्री पाटिल जी जैसे समर्थजनों के उदार सहयोग से 'राष्ट्रीय प्राकृत अकादमी' की शीघ्र स्थापना होगी तथा प्राकृतभाषा के प्रचार-प्रसार के कार्य में प्रशासनिक सहयोग का नया अध्याय जुड़ सकेगा।"

अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी के महामंत्री श्री अरविंद दोशी ने अपने आदरणीय चाचा जी पद्मश्री सेठ लालचन्द जी दोशी के गुणों का संकीर्तन करते हुऐ बताया कि "जहाँ वे अनन्य गांधीवादी विचारक, समर्पित देशभक्त एवं समाजसेवी थे; वहीं उन्होंने अनेकों क्रान्तिकारी कार्य भी किये; जो कि दोशी परिवार के गौरवशाली परंपरा के अनुरूप थे। उदाहरणस्वरूप सर्वप्रथम जैन शास्त्रों का प्रकाशनकार्य इसी परिवार के द्वारा हुआ तथा 'जैन संस्कृति संरक्षक संघ' शोलापुर जैसी प्रख्यात प्रकाशन संस्था भी इसी परिवार की देन है।"

इस कार्यक्रम के प्रारंभ में श्री कुन्दकुन्द भारती के निदेशक प्रो० राजाराम जैन ने प्राकृत काव्यपाठ किया। आचार्य विनाबो भावे की अनन्य भक्त सुश्री निर्मलाताई देशपाण्डे ने भी इस कार्य को महत्त्वपूर्ण बताते हुये प्राकृतभाषा एवं साहित्य के प्रचार-प्रसार तथा इस क्षेत्र में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जनजागरण पर बल दिया। इस अवसर पर समागत अतिथियों एवं विद्वानों का भावभीना स्वागत पद्मश्री सेठ लालचंद हीराचंद स्मृति न्यास की सदस्या **श्रीमती सरयूताई दफ्तरी** ने किया। तदुपरान्त समागत अतिथियों ने आचार्यश्री को श्रीफल भेंट कर अपनी विनयांजलि प्रस्तुत की एवं पद्मश्री सेठ लालचंद जी के चित्र के समक्ष पुष्पांजलि समर्पित की। एवं धन्यवाद-ज्ञापन **श्री स्वदेश भूषण जैन** ने किया। समारोह के प्रारंभ में **श्री हरिचरण वर्मा** ने 'पुरुदेव मंगल' की सुमधुर प्रस्तुति की। श्रीमती **प्रभाकिरण जैन** ने अपनी कविता के माध्यम से इस समारोह की सार्थकता पर प्रकाश डाला।

समारोह का संयोजक श्री कुन्दकुन्द भारती न्यास ने किया इसकी व्यवस्था में **श्री सतीश जैन** बसंत विहार वालों का सहयोग स्मरणीय रहा। तथा गरिमापूर्ण संचालन **डॉ० सुदीप जैन** ने किया। इस सुअवसर पर देशभर से पधारे 'सेठ लालचन्द हीराचन्द दोशी स्मृति न्यास' के सदस्यगण, उनके समस्त परिजन, समाज के गणमान्य श्रेष्ठिजन तथा प्राकृतभाषा एवं भारतीय भाषाओं के प्रख्यात विद्वान् उपस्थित थे, जिनमें **डॉ० प्रेमसुमन जैन**, उदयपुर, तथा **डॉ० उदयचन्द जैन** विशेषत: उल्लेखनीय हैं। **

प्राकृतभाषा की कक्षायें प्रारम्भ

श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ (मानित विश्वविद्यालय), नई दिल्ली-110016 में **प्राकृतभाषा सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम** की कक्षायें 31 अक्तूबर '96 से नियमितरूप से प्रारम्भ हो गयी हैं। प्राकृतभाषा पाठ्यक्रम के संयोजक **डॉ० सुदीप जैन** के अनुसार इस पाठ्यक्रम में प्रवेश लेने के लिये सभी वर्गों के लोगों में भारी उत्साह था; तथा सम्पूर्ण दिल्ली के विभिन्न विश्वविद्यालयों, शिक्षण संस्थानों के छात्रों के अतिरिक्त विभिन्न पदों पर सेवारत सरकारी-गैर सरकारी कर्मियों एवं व्यवसायियों के भी बहुत आवेदन आये, जिन पर गंभीरतापूर्वक विचारकर चयन समिति ने पचास योग्य व्यक्तियों को प्रवेश दिया। इन सभी वर्गों के लोग इस पाठ्यक्रम को निर्विघ्नरूप से कर सकें, एतदर्थ कक्षाओं का समय प्रात: 8.00 बजे से 9.30 बजे तक का रखा है।

भारत की राजधानी दिल्ली में भारत की इस प्राचीनतम जनभाषा के अध्ययन अध्यापन की व्यवस्थित शुरूआत का गौरव संस्कृत विद्यापीठ जैसी प्रतिष्ठित शिक्षण संस्था को मिला है। आशा है इस भाषा में निबद्ध साहित्य में निहित भारतीय संस्कृति, पुरातत्त्व, दर्शन, इतिहास एवं ज्ञान-विज्ञान के अनेकों रहस्य प्रस्तुत पाठ्यक्रम के माध्यम से प्रकाश में आ सकेंगे। **

अल्पसंख्यक आयोग में जैन प्रतिनिधि सम्मिलित

राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग में पहली बार जैनधर्म को प्रतिनिधित्व दिया गया है। जबकि इससे पूर्व इस आयोग में मात्र मुस्लिम, सिख, ईसाई, पारसी एवं बौद्ध आदि सम्प्रदायों को ही प्रतिनिधित्व मिल रहा था। देश के अल्पसंख्यक जैन समुदाय की ओर से बहुत दिनों से यह माँग की जा रही थी कि जैन समुदाय को भी अल्पसंख्यक स्पष्टरूप से घोषित किया जाये तथा राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग में जैन समुदाय को भी प्रतिनिधित्व मिलना चाहिये।

यह हर्ष का विषय है कि हाल ही में हुये राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग के पुनर्गठन में पूज्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज के परम भक्त बैंगलोर निवासी श्री नेमिनाथ के० जैन को सदस्य के रूप में मनोनीत करके जैन समुदाय की भावनाओं को सम्मानित किया गया है तथा आयोग के इतिहास में पहली बार इस महत्त्वपूर्ण राष्ट्रभक्त अल्पसंख्यक समुदाय के व्यक्ति को प्रतिनिधित्व मिला है।

प्रोफेसर ताहिर मुहम्मद की अध्यक्षता में पुनर्गठित राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग के अन्य सदस्य हैं—1. प्रो० बावा सिंह (उपाध्यक्ष), 2. श्रीमती कमला सांकृत्यायन, 3. श्री जफर अली नकवी, 4. डॉ० जेम्स मैस्सी, 5. श्री मराजबान एवं 6. श्री जे०ए० पटरावाला (सभी सदस्य)।

ध्यातव्य है कि आयोग के वर्तमान अध्यक्ष प्रो० ताहिर मुहम्मद दिल्ली विश्वविद्यालय की लॉ फैकल्टी में डीन थे और वे हिंदू एवं मुस्लिम कानूनों के विशेषज्ञ माने जाते हैं। उन्हीं के दूरदर्शितापूर्ण नेतृत्व में देश के अत्यधिक महत्त्वपूर्ण, देशभक्त एवं समाजसेवी अल्पसंख्यक जैन समुदाय के व्यक्ति को इस आयोग में प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ है —यह उनकी दूरदर्शिता, निष्पक्षता एवं उदात्त मानसिकता का द्योतक है। अत: उन्हें इस कार्य के लिये हार्दिक धन्यवाद। इस कार्य की सम्पन्नता में जैनसमाज के अग्रणी नेता **साहू रमेश चंद जी जैन** का श्रम एवं योगदान उल्लेखनीय है। वस्तुत: इसे उन्हीं की लगन एवं मेहनत का सुफल कहा जा सकता है। —**महावीर शास्त्री**, *कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली* **

"जब से सूर्य-चन्द्र हैं, तब से श्रमण-संस्कृति है"

"जो आत्महित एवं लोककल्याण की उदात्त भावनापूर्वक संयमित जीवन एवं तप: साधना की वृत्ति को अपनाते हैं, वे 'श्रमण' कहे जाते हैं। ये पवित्र संस्कार इस पृथ्वी पर मानव जाति में चिरन्तन हैं। अत: निर्विवादरूप से यह कहा जा सकता है कि जब से सूर्य एवं चन्द्र हैं, तब से श्रमण-संस्कृति इस धरा पर विद्यमान है। आचार्य कुन्दकुन्द जैसे महान् तपस्वी श्रमणसन्तों ने इस धारा को शतश: प्रवाहित किया तथा युग-युग में इस संस्कृति से भारतीय एवं भारतीयेतर सांस्कृतिक चेतनायें प्रभावित एवं अनुप्राणित रही हैं।" —ये विचार सुप्रसिद्ध विचारक विद्वान् डॉ० पाण्डुरंग राव (पूर्व निदेशक-भारतीय ज्ञानपीठ) ने कुन्दकुन्द भारती में दिनांक 30.11.96 को आयोजित पुनश्चर्या पाठ्यक्रम के विशेष सत्र में व्यक्त किये। इस सत्र का विषय 'भारतीय परम्परा में श्रमण संस्कृति का योग' था। यह पाठ्यक्रम विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली-110016 के तत्त्वावधान में आयोजित था।

कार्यक्रम में **पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी** का पावन सान्निध्य था। तथा कार्यक्रम की अध्यक्षता विद्यापीठ के कुलपति **प्रो० वाचस्पति उपाध्याय** ने की। विशिष्ट अतिथि के रूप में अलीगढ़ विश्वविद्यालय के पूर्व वेदविभागाध्यक्ष **प्रो. एस.पी. सिंह** तथा दिल्ली विश्वविद्यालय के संस्कृत विभागाध्यक्ष **प्रो. सत्यपाल नारंग** तथा विद्यापीठ के कुलसचिव **डॉ. गंगाधर पण्डा** भी उपस्थित थे।

अपने मंगल आशीर्वचन में पूज्य आचार्यश्री ने कहा कि "भारतवर्ष में श्रमण संस्कृति एवं वैदिक संस्कृति – दोनों अति प्राचीन संस्कृतियाँ रही हैं, तथा दोनों की पृष्ठभूमि उदात्त भावनाओं पर आधारित है। दोनों में परस्पर बहुत सहयोग भाव भी रहा है। आज भी विद्यापीठ एवं कुन्दकुन्द

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भारती का पारस्परिक प्रेम एवं सहयोग इस तथ्य का साक्षी है। प्राचीन आचार्यों एवं ग्रन्थों में भी एक दूसरे के उदात्त विचारों की उदारभाव से स्वीकृति देखने को मिलती है। आवश्यकता विसंवाद बढ़ाने की नहीं, अपितु विचारों के आदान-प्रदान एवं गुणग्रहण की भावना से पारस्परिक सहयोग की है। और डॉ. मण्डन मिश्र जी जैसे मनीषी विद्वान् इस दिशा में अहर्निश प्रयत्नशील हैं —यह हर्ष का विषय है।"

ज्ञातव्य है कि प्रतिवर्ष ऐसे तीन इक्कीस दिवसीय पुनश्चर्या पाठ्यक्रम विद्यापीठ में आयोजित होते हैं, जिनका एक विशेष सत्र विद्यापीठ के संस्थापक कुलपति डॉ. मण्डन मिश्र जी का प्रेरणा से नियमितरूप से कुन्दकुन्द भारती में पूज्य आचार्यश्री की सन्निधि में आयोजित किया जाता है। इन पाठ्यक्रमों में देशभर के विभिन्न विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों के वरिष्ठ प्राध्यापकवृन्द ही प्रतिभागी के रूप में सम्मिलित होते हैं। यहाँ पर हर बार सभी प्रतिभागियों को ससम्मान साहित्य भी भेंट किया जाता है। **

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ में विद्वानों का सम्मान

देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इन्दौर द्वारा मान्यता प्राप्त शोध संस्थान कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर द्वारा पूर्व कुलपति प्रो० अब्बासी एवं प्रबंध अध्ययन संस्थान के निदेशक प्रो० पी०एन० मिश्र के सम्मान में समाज विज्ञान संकाय की अध्यक्षा प्रो० ललिताम्बा की अध्यक्षता में एक सम्मान समारोह आयोजित किया गया। संस्था द्वारा दिये गये सम्मान के प्रत्युत्तर में प्रो० अब्बासी ने कहा कि "संस्था से मेरा परिचय मात्र 1-1/2 वर्ष की अल्पावधि का है, किन्तु मुझे यह देखकर प्रसन्नता है कि शोर शराबे से दूर रहकर इस शोध संस्थान के द्वारा उच्च स्तरीय शोध कार्य किया जा रहा है। यहाँ का पुस्तकालय सुव्यवस्थित है एवं प्रो० एल०सी० जैन, जबलपुर जैसे विचारक एवं प्रख्यात गणितज्ञ इस संस्था से सम्बद्ध हैं। यह संस्था शोध-संस्थानों हेतु आदर्श है।"

सभाध्यक्ष प्रो० ललिताम्बा ने कहा कि संस्था द्वारा आयोजित यह सम्मान समारोह आयोजकों की सद्भावना एवं गुण-ग्राहकता का प्रतीक है। इस सभा में उच्चरित प्रत्येक शब्द एवं प्रदत्त सम्मान स्वस्थ परम्परा के विकास की दृष्टि से बहुमूल्य है।

श्री अजित कुमार सिंह कासलीवाल ने आभार माना। सभा में तेलुगू वि०वि० हैदराबाद के प्रो० लक्ष्मी नारायण, प्रो० पोथन, डॉ० रजनीश जैन, प्रो० संगीता जैन, प्रो० कल्पना जैन, डॉ० प्रकाशचन्द जैन, श्री रमेश कासलीवाल की उपस्थिति उल्लेखनीय थी।

सभा का संयोजन/संचालन ज्ञानपीठ के सचिव डॉ० अनुपम जैन ने किया। **

शाहपुर में विद्वत्-संगोष्ठी सम्पन्न

शाहपुर (मुजफ्फरनगर) उपाध्याय श्री ज्ञानसागरजी महराज ने यहाँ आयोजित एक विशाल विद्वत्-संगोष्ठी में प्रवचन करते हुए कहा कि "प्राचीन पीढ़ी में जो पांडित्य था, वह शनैः शनैः समाप्त हो रहा है। उसकी आज बहुत आवश्यकता है; उस ज्ञानदीप को अखंड जलाए रखने के लिए विद्वानों को सजग रहना होगा। जैसे पंच कल्याणक में प्रतिष्ठा के माध्यम से पाषण की मूर्ति को देवत्व प्रदान किया जाता है, वैसे ही प्राचीन संस्कृति की सुरक्षा के लिए समाज के सभी वर्गों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को प्रयास करना चाहिए। विद्वानों को भी अपनी आचार-संहिता का उपयोग करना चाहिए।"

संगोष्ठी में डॉ० कस्तूरचंद कासलीवाल, जयपुर, डॉ० रमेश चन्द्र जैन, बिजनौर, डॉ० कमलेश जैन, बनारस, डॉ० सुरेश चंद जैन, वाराणसी, डॉ० उदयचंद जैन आदि ने भी अपने विचार व्यक्त किए। अपने अध्यक्षीय भाषण में श्री भागचंद जैन ने कहा कि "हमें जीवन का एक-एक पल प्राचीन संस्कृति की सुरक्षा में लगाना चाहिए।" मंगलाचरण बहन अनीता ने किया। क्षेत्रीय विधायक श्री राजपाल सिंह बालियान भी इस अवसर पर उपस्थित थे। ✱✱

प्राकृतविद् डॉ० के०आर० चन्द्रा सम्मानित

दिनांक 22.9.96 को भावनगर (सौराष्ट्र, गुजरात) में कलिकाल-सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य की नवम जन्म शताब्दी स्मृति संस्कार शिक्षण निधि, अहमदाबाद द्वारा जैन उपाश्रय में आयोजित एक भव्य समारोह में प्राकृत एवं पालि विभाग (भाषा साहित्य भवन, गुजरात युनिवर्सिटी) के निवृत्त अध्यक्ष डॉ० के० ऋषभ चन्द्र (के०आर० चन्द्रा) को उनके द्वारा प्राकृतभाषा विषयक किये गये बहुमूल्य संशोधन-कार्य एवं जैन आगम-साहित्य की भाषा के विषय में उनके विशिष्ट अवदान के लिए शाल अर्पित (उढ़ाकर) करके श्री हेमचन्द्राचार्य सुवर्णचन्द्रक (पदक) प्रदान करके उनका सम्मान किया गया। ✱✱

डॉ० खण्डेलवाल की कृति राष्ट्रपति को भेंट

हिन्दी के सुविख्यात विद्वान् डॉ० जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल ने अपनी विश्रुतकृति 'हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ' के नवीनतम संस्करण की एक प्रति राष्ट्रपति भवन में आयोजित विशेष समारोह में महामहिम राष्ट्रपति डॉ० शंकर दयाल शर्मा को भेंट की। इस कृति में शौरसेनी प्राकृत एवं अपभ्रंश की विकास यात्रा का परिचय देते हुए इनसे ब्रजभाषा और हिन्दी का विकास तो बताया ही है, अनेकानेक जैन कवियों के हिन्दी साहित्य का गरिमापूर्ण परिचय भी हिन्दी की साहित्यिक प्रवृत्तियों के अन्तर्गत दिया गया है। लेखक ने यह संस्करण आचार्यश्री विद्यानन्द जी को समर्पित किया है। ज्ञातव्य है कि डॉ० खण्डेलवाल कुन्दकुन्द भारती के पूर्व निदेशक रह चुके हैं। ✱✱

श्रीमती रमा जैन महिला प्रतिभा पुरस्कार

दिगम्बर जैन समाज में अनेक प्रतिभाशाली महिलाएं हैं, उनमें कई ने विभिन्न क्षेत्रों में सराहनीय योगदान दिया है। महिलाओं को और प्रोत्साहित करने के लिए जयपुर में दिगम्बर जैन महासमिति द्वारा आयोजित महिला सम्मेलन के अवसर पर साहू श्री अशोक कुमार जैन ने साहू जैन ट्रस्ट द्वारा इक्यावन हजार रुपये का एक पुरस्कार प्रारम्भ करने की घोषणा की; जो किसी भी क्षेत्र में विशिष्ट उपलब्धि के लिए हर वर्ष एक दिगम्बर जैन महिला को दिया जायेगा। पुरस्कार की व्यवस्था तथा समारोह का आयोजन दिगम्बर जैन महासमिति करेगी।

यह पुरस्कार निर्णायक-मण्डल द्वारा चयनित ऐसी प्रतिभाशाली दिगम्बर जैन महिला को दिया जायेगा; जिसने समाजसेवा, साहित्य, विज्ञान, कला, शिक्षा, उद्योग आदि किसी भी क्षेत्र में विशिष्ट योगदान दिया हो। आवेदन-पत्र महासमिति के केन्द्रीय कार्यालय से मँगाये जा सकते हैं। ✱✱

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रो० पारसमल अग्रवाल की नवीन खोज

प्रो० अग्रवाल ने 6 साथी अमेरिकी विद्वानों के दल के साथ मिलकर Continious Frequency Modulation Effect (CFM Effect) की खोज की है। इस दल के सर्वप्रमुख अनुसंधानकर्त्ता प्रो० अग्रवाल ने बताया कि कंपन स्पेक्ट्रम के क्षेत्र में इस खोज का मौलिक महत्त्व है। यह अनुसंधान नवीन रसायनों के निर्माण तथा खगोल विज्ञान के अध्ययन में भी अत्यन्त उपयोगी रहेगा। प्रो० अग्रवाल के इस नवीन अनुसंधान कार्य को American Institute of Physics की विश्वविख्यात शोध पत्रिका 'Journal of Chemical Physics' के अगस्त '96 अंक में प्रकाशित किया गया है।

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ के निदेशक डॉ० अग्रवाल की इस उत्कृष्ट उपलब्धि पर प्रो० अग्रवाल को बधाई। **

आचार्यश्री शान्तिसागर जी को विनम्र श्रद्धांजलि

दिगम्बर जैन संघ के एक प्रमुख संत आचार्यश्री शान्तिसागर जी का दिनांक 21 नवम्बर '96 को फिरोजपुर–झिरका (हरियाणा) में समाधिपूर्वक महाप्रयाण हो गया। वे इसके पूर्व दस दिनों से अन्न-जल त्यागकर 'सल्लेखना' ग्रहण कर चुके थे। 12 अगस्त 1915 को अलवर (राज०) जिले के 'अलावड़ा' ग्राम में जन्मे बालक सुखराम ने चालीस वर्ष की युवावस्था में ब्रह्मचर्यव्रत अंगीकार किया तथा सन् 1971 में मुजफ्फरनगर (उ०प्र०) में आचार्य निर्मल सागर जी से दीक्षा ग्रहण की। दीक्षोपरान्त आपका नाम हुआ 'शान्तिसागर'। इसी साधनाक्रम में 3 नवम्बर 1979 को हस्तिनापुर (उ०प्र०) में आपको आचार्य पद मिला।

पूज्य आचार्यश्री दिगम्बर जैन शुद्धाम्नाय के अनुपालक तपस्वी सन्त थे। आप जब भी दिल्ली पधारते, तो कुन्दकुन्द भारती में अवश्य आते थे और आचार्यश्री विद्यानन्द जी के प्रति आपका विशेष आत्मीयभाव था।

दिवंगत आचार्यश्री को सुगतिगमन एवं यथाशीघ्र मोक्ष-प्राप्ति की कामनापूर्वक प्राकृतविद्या परिवार की ओर से कृतज्ञ विनयांजलि अर्पित है। –सम्पादक **

छपते–छपते

विद्वद्वरेण्य पं० वंशीधर जी व्याकरणाचार्य का देहावसान दि० 11.12.96 को हो गया है। आप आचार्य कुन्दकुन्द पुरस्कार 1995 (गाँधी नाथा रंगजी ट्रस्ट, सोलापुर) से सम्मानित प्रसिद्ध न्यायाचार्य डॉ० दरबारी लाल जी कोठिया के पिताश्री थे। 'प्राकृतविद्या' परिवार की ओर से दिवंगत भव्यात्मा को सुगतिगमन एवं बोधिलाभ की मंगलकामना के साथ विनम्र श्रद्धांजलि। **

प्राकृतविद्या के स्वत्वाधिकारी एवं प्रकाशक श्री सुरेशचन्द्र जैन, मंत्री, श्री कुन्दकुन्द भारती, 18 बी, स्पेशल इन्स्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली-67 से प्रकाशित एवं मुद्रक श्री महेन्द्र कुमार जैन द्वारा, प्रिंटैक्सेल, (फोन-6852255), नई दिल्ली-67 से लेज़र टाईपसैटिंग कराके, जे०के० ऑफसेट प्रिंटर्स, दिल्ली-6 पर मुद्रित। भारत सरकार पंजीयन संख्या 48869/89

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

With best compliments from :

S.C.J. Plastics Ltd.

F-3/10&11, OKHLA INDUSTRIAL AREA PHASE-I, NEW DELHI-110020
HOUSE OF PLASTIC QUALITY PRODUCTS

- MASTERBATCHES FOR LD, HD, HM, PP, PVC FOR MAJOR APPLICATIONS LIKE FILM, INJECTION & BELOW MOULDING, PP FIBERS, TELECOM CABLES & SHOES.
- SPECIAL MASTERBATCHES FOR PS, HIPS, ABS & OTHER ENGG. PLASTICS.
- PROPERTY MASTERBATCHES INCLUDING ANTIFBRILATION & UV ABSORBANTS.
- SPECIAL CABLE COMPOUNDS-FRLS & HALOGEN FREED FLAME RETARDENT ETC.

✆ : 6815566, 6819400, 6818181 FAX : 91-011-6814455

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

With Best Compliments From

P.H. Kumar & Co.

6/18, Ajmal Khan Road
Karol Bagh, New Delhi-110005

Agents For –

M/s Allen Solly, England

Deals in : **Gents Readymade Garments**

☎ **5723763, 7217118, 7410154**
Fax : 7246147

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

With Best Compliments From

Surendra Kumar
Sandeep Kumar Jain

B-499, New Friends Colony
New Delhi-110065
Phones : 6834421, 6843621

Proprietors

- ***THE PARAS WOOD PRODUCTS***
  Mfrs. Sewing Machine Wood Work,
- *PARAS Appliances*
  Mfrs. Water Geysers & Room Coolers
- *Home Appliances*
  Mfrs. A.C.-D.C. F.H.P. Electric Motors

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्या साधना जनपद में नहीं हो सकती?
क्या जंगल के एकान्त में ही साधना संभव है?
क्या साधना क्षेत्र भी प्रतिबद्ध है? इसका उत्तर–

थिरकय जोगाणं पुण, मुणीणज्झाणेसु णिच्चलमणाणं।
गामम्मि जणाइण्णे, सुण्णे रण्णे य ण विसेसो।।

–आचार्य वीरसेन धवला पु० 13/18

अर्थ—जिन्होंने अपने योगों को स्थिर कर लिया है तथा जिनका मन निश्चल है, ऐसे मुनिराजों के लिए मनुष्यों से व्याप्त जनपद, ग्राम और शून्य जंगल में कोई अन्तर नहीं है।

❖❖❖

Exporters of Hi-fashion Garments & Accessories

Manish Jain
K-3 Green Park Main Ist Floor.
New Delhi –110 016
Tel.: 91-11-6858973. 6858974
Fax No.: 91-11-6854610

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भाव सनातन और सार्वभौमिक है—भावों को केवल विभिन्न भाषाओं में ही अभिव्यक्त किया जाता है और हमारे भाषाई वैविध्य में जो एक उल्लेखनीय तथ्य है वह है—अन्य भाषाओं से लाये गये शब्द और एक सहज तत्परता से इनका हमारी भाषाओं में घुल-मिल जाना, समाहित हो जाना। यदि किसी भी भाषा को कायम रहना है, फैलना है और फलना-फूलना है, तो व्यापक स्तर पर पारस्परिक व्यवहार, आदान-प्रदान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है—अभी बहुत कुछ हासिल किया जाना है।

☆

भाषा की एक सांझी आत्मा है, इसे जीवन्त बनाये रखिये।

☆

नवभारत टाइम्स प्रकाशन-समूह

की

शुभकामनाओं सहित

☆ ☆ ☆

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

With Best Compliments

from

Siddharth Interiors

INTERIOR DESIGNERS & FURNISHERS

25, Panscheel Park, Shopping Complex,
New Delhi - 110017.
Tel.: 6442075, 6460803

**HIGH CLASS INTERIORS
WITH DESIGN PACKAGE
FOR RESIDENCES, OFFICES,
FARM HOUSES, VILLAS ETC.**

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शुभ कामनाओं सहित :

सब मॉडल
हमेशा उपलब्ध !
तुरन्त डिलीवरी
केवल गौतम पर

50% दीजिए
शेष ब्याज फ्री
6 किश्तों में
बिना गारन्टर

bajaj

100% फायनान्स
@ 9.5% p.a. (flat)
(बी ए एफ एल द्वारा)
(रविवार खुला है)

बिक्री कर
केवल 6%
बचाएं रु. 800/- तक

चेतक, चेतक मेटैलिक, सुपर, सुपर FE,
सनी, कावासाकी बजाज मोटर साइकिल

पूरी जानकारी के लिए सम्पर्क करें:

गौतम ऑटो मोटर्स

स	तिलक नगर	:	4ए/4, नजफगढ़ रोड, पानी की टंकी के पास, फोन : 5455310, 593386
स	ओखला फेस-2	:	ई-41/6, इण्डस्ट्रियल एरिया, फोन : 633284, 6841156
स	आर.के.पुरम	:	रिंग रोड, भीकाजी कामा प्लेस, फोन : 672197, 673298
स	राणा प्रताप बाग	:	बी-81, जी.टी. करनाल रोड, इण्डस्ट्रियल एरिया, फोन : 7218240, 7113408

बजाज की शान ~ गौतम के साथ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्रामेऽरण्यमिति द्वेधा, निवासोऽनात्मदर्शिनाम्।
दृष्टात्मानां निवासस्तु, विविक्तात्मैव निश्चल:।।

—आचार्य पूज्यपाद, समाधितन्त्र 73

अर्थ—जो अनात्मदर्शी संसारी प्राणी हैं, वे गाँव अथवा जंगल में निवास करने में भेददृष्टि रखते हैं; किन्तु जो आत्मदर्शी साधक हैं, वे पर से विभक्त निजशुद्धात्मतत्त्व में ही निश्चलरूप से निवास करते हैं।

With Best Compliments From :

Manufactures

PAPER & BOARD
COLOURED TRIPLEX FILE BOARD

Magnum Paper (P) Ltd.
18/31, Site No.4. Sahibabad (U.P.) Tel.: 8770421

Delhi Paper Co.
685, Chitla Gate, Chawri Bazar Delhi-6 Tel.: 3264503, 3261179

Res.: 3/4326, Ansari Road, Darya Ganj, New Delhi-110002
Tel.: 3265375, 3267209

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'विजने जनसंकीर्णे, सुस्थिते दुःस्थितेऽपि वा।
सर्वत्राप्रतिबद्धः स्यात्संयमी संगवर्जितः।।'

—आचार्य शुभचंद्र, ज्ञानार्णव 16/34

अर्थ—भीड़ हो अथवा निर्जन स्थान हो, अच्छी या बुरी कैसी भी स्थिति हो; जो संयमी निसंग पुरुष हैं, वे प्रत्येक परिस्थिति में अप्रभावित रहकर आत्मसाधना में लीन रहते हैं।

परमपूज्य आचार्य श्री विद्यानन्द मुनि

भारत रेडिएटर्स लिमिटेड

ऑफिस.
८१. बजाज भवन
नरिमन पॉइंट,
मुंबई—४०००२१
दूरभाष: २०२००८५/२०२१४२७
ग्राम: : स्मूथरन
टैलेक्स : ०११-४६६१

फैक्टरी
विद्यानगरी मार्ग
सांताक्रुज (पूर्व)
मुंबई—४०० ०९८
फोन: ६१२२९६५/६१२३४५७
ग्राम : प्रैसवर्क

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किसी पत्र पत्रिका में
छोटा सा स्थान

साथ ही थोड़ा सा
हमारा योगदान

परिणाम ?
एक भविष्य महान

Sharad Advertising Pvt. Ltd.

96, Rashid Market, Delhi-110051
Ph: 2212364, 2249547, 2247589 Fax: 2228308

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

With Best Compliments

From

Padma Gems Jewellers

9-A SUNDER NAGAR MARKET,
NEW DELHI-110003, INDIA

TEL.: 4611513, 4611202
FAX: 91-11-4627513

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

A NAME TO RECKON WITH
IN RIGID P.V.C. PIPES

IS : 4985

ISI

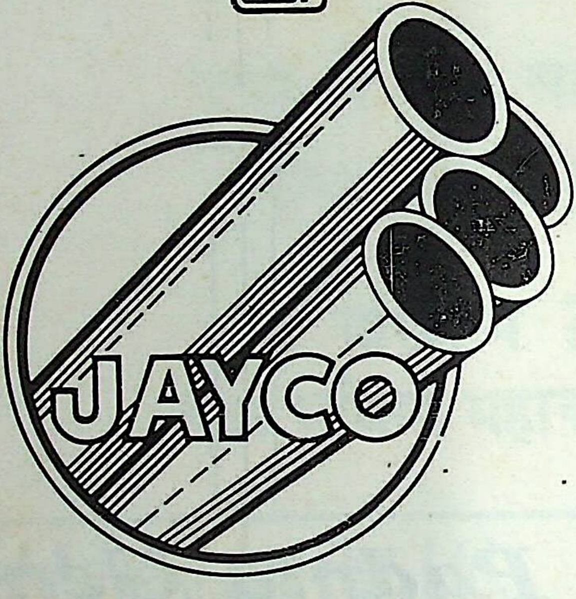

JAYCO PIPES PVT. LTD.

Works : 58 3. Site IV. Industrial Area. Sahibabad. Ghaziabad
U.P. 201010 Ph. : 8770932-33
Regd. Office : E-11. Krishan Nagar. Delhi-110051
Ph. : 2203831. 2243831. FAX 2226831

4635

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शुभकामनाओं सहित

पी०आर०जे० इन्टरप्राइज़र्स

अधिकृत विक्रेता :
(सेल-सर्विस-स्पेयर्स)

पाल प्रीमियर लिमिटेड

(उनो, प्रीमियर पद्मिनी एवं प्रीमियर डीजल कार)

शोरूम :
ए-5, नजफगढ़ रोड़, कीर्ति नगर (छोटेलाल पार्क)
नई दिल्ली-110015

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

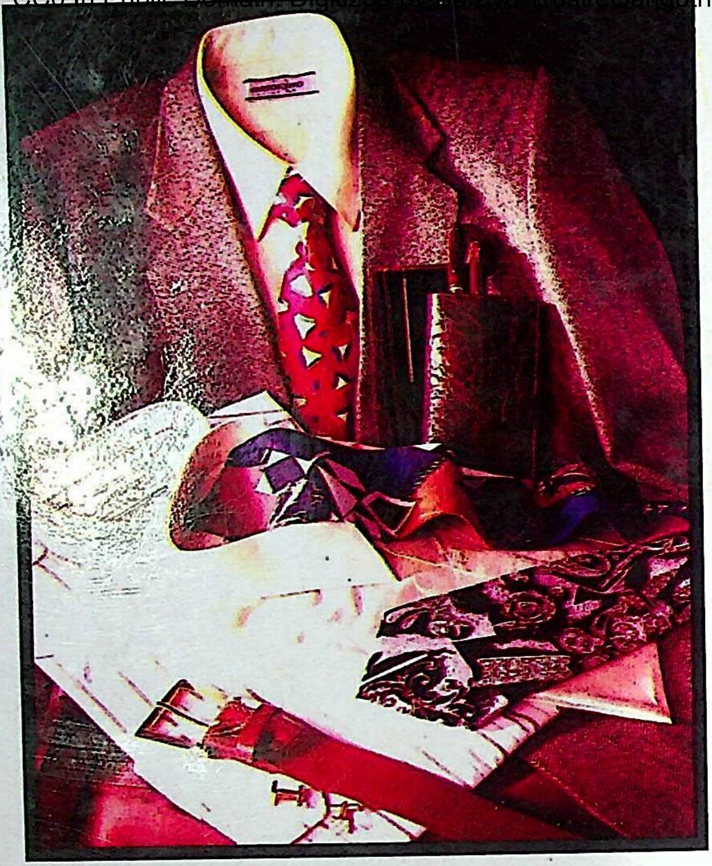

A treasure trove of shopping. A delight for the family with a sweep of tantalizing Readymades, Gifts, Novelties, Tempting Household Linen, Made-ups, Accessories Handicrafts, Watches and Jewellery.

amorino™

PERFECT SHOPPING

EIC HOUSE, HAUZ KHAS, AUROBINDO MARG, NEW DELHI-110016

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi